वंदनीय अवंदनीय

लेखक
नेमीचंद बांठिया
संपादक
मुनिराज श्री जयानन्दविजयजी

।। श्री शत्रुंजय तीर्थाधिपति श्री आदीश्वराय नमः ।। ।। श्री वर्धमान स्वामिने नमः ।।
।। प्रभु श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वराय नमः ।।

।। वंदनीय अवंदनीय ।।

दिव्याशिष

आचार्यदेवश्रीविद्याचंद्रसूरीश्वरजी म.सा.

मुनिराजश्रीरामचंद्रविजयजी म.सा.

संपादक

मुनिराज श्री जयानंदविजयजी

प्रकाशक

श्रीगुरुरामचन्द्र प्रकाशन समिति, भीनमाल, (राज.)

मुख्य संरक्षक

(१) श्री संभवनाथ राजेन्द्र सूरि जैन श्वे. ट्रस्ट, विजयवाडा A.P.
कुंडुलवरी स्ट्रीट, विजयवाडा (A.P.)

(२) मुनिराज श्री जयानन्द विजयजी
आदि ठाणा की निश्रा में वि. २०६५ में शत्रुंजय तीर्थे चातुर्मास एवं उपधान करवाया उस निमित्ते
लेहर कुंदन ग्रुप, मुंबई, दिल्ली, चेन्नई, हरियाणा
श्रीमती गेरोदेवी जेठमलजी बालगोता परिवार, मेंगलवा

(३) एक सद्गृहस्थ, भीनमाल

(४) संघवी उत्तमकुमार सन्तोषदेवी
कुणाल, मेघा बेटा पोता रीखबचंद ताराजी नागोवा सोलंकी, बाकरा (राज.)
R. T. SHAH & CO., 1, सांबयार स्ट्रीट, जार्ज टाउन, चेन्नई-600 001.

• प्राप्तिस्थान •

शा. देवीचंद छगनलालजी

सुमति दर्शन, नेहरू पार्क के सामने, माघ कॉलनी, भीनमाल-३४३ ०२९ (राज.) फोन : (०२९६९) २२० ३८७

श्री आदिनाथ राजेन्द्र जैन पेढी

साँथू-३४३ ०२६. जिला : जालोर (राज.) फोन : (०२९७३) २५४ २२१

श्री विमलनाथ जैन पेढी

बाकरा गाम-३४३ ०२५. (राज.) फोन : (०२९७३) २५१ १२२ मो. : ९४१३४ ६५०६८

महाविदेह भीनमाल धाम

तलेटी हस्तिगिरि, लिंक रोड, पालीताणा-३६४ २७०. फोन : (०२८४८) २४३ ०१८

श्री तीर्थेन्द्र सूरि स्मारक संघ ट्रस्ट

तीर्थेन्द्र नगर, बाकरा रोड-३४३ ०२५. जिला : जालोर (राज.) फोन : (०२९७३) २५१ १४४

संरक्षक

(१) सुमेरमल केवलजी नाहर, भीनमाल, राज.
के. एस. नाहर, २०१ सुमेर टॉवर, लव लेन, मझगांव, मुंबई-१०.

(२) मीलियन ग्रुप, सूराणा, मुंबई, दिल्ली, विजयवाडा.

(३) एम. आर. इम्पेक्स, १६-ए, हनुमान टेरेस, दूसरा माला, ताराटेम्पल लेन, लेमीग्टन रोड, मुंबई-७. फोन : २३८०१०८६.

(४) श्री शांतिदेवी बाबुलालजी बाफना चेरीटेबल ट्रस्ट, मुंबई. महाविदेह भीनमालधाम, पालीताना-३६४२७०.

(५) संघवी जुगराज, कांतिलाल, महेन्द्र, सुरेन्द्र, दिलीप, धीरज, संदीप, राज, जैनम, अक्षत बेटा पोता कुंदनमलजी भुताजी श्रीश्रीमाळ, वर्धमान गौत्रीय आहोर (राज.) कल्पतरू ज्वेलर्स, ३०५, स्टेशन रोड संघवी भवन, थाना (प.) महाराष्ट्र.

(६) अति आदरणीय वडील श्री नाथालाल तथा पू. पिताजी चीमनलाल, गगलदास, शांतिलाल तथा मोंघीबेन अमृतलाल के आत्मश्रेयार्थे चि. निलांग के वरसीतप, प्रपौत्री भव्या के अट्ठाई वरसीतप अनुमोदनार्थ दोशी वीजुबेन चीमनलाल डायालाल परिवार, अमृतलाल चीमनलाल दोशी पांचशो वोरा परिवार, थराद-मुंबई.

(७) शत्रुंजय तीर्थे नव्वाणुं यात्रा के आयोजन निमित्ते शा. जेठमल, लक्ष्मणराज, पृथ्वीराज, प्रेमचंद, गौतमचंद, गणपतराज, ललीतकुमार, विक्रमकुमार, पुष्पक, विमल, प्रदीप, चिराग, नितेष बेटा-पोता कीनाजी संकलेचा परिवार मेंगलवा, फर्म -अरिहन्त नोवेल्हटी, GF3 आरती शोपींग सेन्टर, कालुपुरटंकशाला रोड, अहमदाबाद. पृथ्वीचंद ऐन्ड कं.,तिरुचिरापली.

(८) थराद निवासी भणशाळी मधुबेन कांतिलाल अमुलखभाई परिवार.

(९) शा कांतीलाल केवलचंदजी गांधी सियाना निवासी द्वारा २०६३ में पालीताना में उपधान करवाया उस निमित्ते.

(१०) 'लहेर कुंदन ग्रुप' शा जेठमलजी कुंदनमलजी मेंगलवा (जालोर)

(११) २०६३ में गुडा में चातुर्मास एवं उपधान करवाया उस समय पद्मावती सुनाने के उपलक्ष में शा चंपालाल, जयंतिलाल, सुरेशकुमार, भरतकुमार, प्रिन्केश, केनित, दर्शित चुन्नीलालजी मकाजी काशम गौत्र त्वर परिवार गुडाबालोतान् जयचिंतामणि १०-५४३ संतापेट नेल्लूर-५२४००१ (आ.प्र.)

(१२) पू. पिताश्री पूनमचंदजी मातुश्री भुरीबाई के स्मरणार्थे पुत्र पुखराज, पुत्रवधु लीलाबाई पौत्र फुटरमल, महेन्द्रकुमार, राजेन्द्रकुमार, अशोककुमार मिथुन, संकेश, सोमील, बेटा पोता परपोता शा. पूनमचंदजी भीमाजी रामाणी गुडाबालोतान् 'नाकोडा गोल्ड' ७०, कंसारा चाल, बीजामाले, रूम नं. ६७, कालबादेवी, मुंबई-२

(१३) शा सुमेरमल, मुकेशकुमार, नितीन, अमीत, मनीषा, खुशबु बेटा पोता पेराजमलजी प्रतापजी रतनपुरा बोहरा परिवार, मोदरा (राज.) राजरतन गोल्ड प्रोड. के. वी. एस. कोम्प्लेक्ष, ३/१ अरुंडलपेट, गुन्टूर A.P.

(१४) एक सद्गृहस्थ, धाणसा.

(१५) गुलाबचंद डॉ. राजकुमार, निखीलकुमार, बेटा पोता परपोता शा छगनराजजी पेमाजी कोठारी, आहोर, अमेरिका : ४३४१, स्कैलेण्ड ड्रीव अटलान्टा जोर्जिया U.S.A.-३०३४२. फोन : ४०४-४३२-३०८६/६७८-५२१-११५०

(१६) शांतिरूपचंद रविन्द्रचंद, मुकेश, संजेश, ऋषभ, लक्षित, यश, ध्रुव, अक्षय बेटा पोता मिलापचंदजी महेता जालोर, बेंगलोर.

(१७) वि.सं.२०६३ में आहोर में उपधान तप आराधना करवायी एवं पद्मावती श्रवण के उपलक्ष में पिताश्री थानमलजी मातुश्री सुखीदेवी, भंवरलाल, घेवरचंद, शांतिलाल, प्रवीणकुमार, मनीष, निखिल, मित्तुल, आशीष, हर्ष, विनय, विवेक बेटा पोता कनाजी हकमाजीमुथा, शा. शांतिलाल प्रवीणकुमार एन्ड को. राम गोपाल स्ट्रीट, विजयवाडा. भीवंडी, इचलकरंजी.

(१८) बाफना वाडी में जिन मन्दिर निर्माण के उपलक्ष में मातुश्री प्रकाशदेवी चंपालालजी की भावनानुसार पृथ्वीराज, जितेन्द्रकुमार, राजेशकुमार, रमेशकुमार, वंश, जैनम, राजवीर, बेटा पोता चंपालाल सांवलचन्दजी बाफना, भीनमाल. नवकार टाइम, ५१, नाकोडा स्टेट न्यु बोहरा बिल्डींग, मुंबई-३.

(१९) शा शांतिलाल, दीलीपकुमार, संजयकुमार, अमनकुमार, अखीलकुमार, बेटा पोता मूलचंदजी उमाजी तलावत आहोर (राज.) राजेन्द्रा मार्केटींग, विजयवाडा.

(२०) श्रीमती सकुदेवी सांकलचंदजी नेथीजी हुकमाणी परिवार, पांथेडी, राज. राजेन्द्र ज्वेलर्स, ४-रहेमान भाई बि. एस. जी. मार्ग, ताडदेव, मुंबई-३४.

(२१) पूज्य पिताजी श्री सुमेरमलजी की स्मृति में मातुश्री जेठीबाई की प्रेरणा से जयन्तिलाल, महावीरचंद, दर्शन, बेटा पोता सुमेरमलजी वरदीचंदजी आहोर, जे. जी. इम्पेक्स प्रा.लि. - ५५ नारायण मुदली स्ट्रीट, चेन्नई-७९.

(२२) स्व. हस्तीमलजी भलाजी नागोत्रा सोलंकी की स्मृति में हस्ते परिवार बाकरा (राज.)

(२३) मुनिश्री जयानंद विजयजी की निश्रा में लेहर कुंदन ग्रुप द्वारा शत्रुंजय तीर्थे २०६५ में चातुर्मास उपधान करवाया उस समय के आरधक एवं अतिथि के सर्व साधारण की आय में से सवंत २०६५.

(२४) मातुश्री मोहनीदेवी, पिताश्री सांवलचंदजी की पुण्यस्मृति में शा पारसमल सुरेशकुमार, दिनेशकुमार, कैलाशकुमार, जयंतकुमार, बिलेश, श्रीकेष, दीक्षिल, प्रीष कबीर, बेटा पोता सोवलचंदजी कुंदनमलजी मेंगलवा, फर्म : Fybros Kundan Group, ३५ पेरुमल मुदली स्ट्रीट, साहुकार पेट, चेन्नई-१. Mengalwa, Chennai, Delhi, Mumbai.

(२५) शा सुमेरमलजी नरसाजी -मेंगलवा, चेन्नई.

(२६) शा दूधमलजी, नरेन्द्रकुमार, रमेशकुमार बेटा पोता लालचंदजी मांडोत परिवार बाकरा (राज.) मंगल आर्ट, दोशी बिल्डींग, ३-भोईवाडा, भूलेश्वर, मुंबई-२

(२७) कटारीया संघवी लालचंद, रमेशकुमार, गौतमचंद, दिनेशकुमार, महेन्द्रकुमार, रविन्द्रकुमार बेटा पोता सोनाजी भेराजी धाणसा (राज.) श्री सुपर स्पेअर्स, ११-३१-३A पार्क रोड, विजयवाडा, सिकन्द्राबाद.

(२८) शा नरपतराज, ललीतकुमार, महेन्द्र, शैलेष, निलेष, कल्पेश, राजेश, महीपाल, दिक्षीत, आशीष, केतन, अश्वीन, रींकेश, यश, मीत, बेटा पोता खीमराजजी थानाजी कटारीया संघवी आहोर (राज.) कलांजली ज्वेलर्स, ४/२ ब्राडी पेठ, गुन्टूर-२.

(२९) शा लक्ष्मीचंद, शेषमल, राजकुमार, महावीरकुमार, प्रविणकुमार, दिलीपकुमार, रमेशकुमार बेटा पोता प्रतापचंदजी कालुजी कांकरीया मोदरा (राज.) गुन्टूर.

(३०) एक सद्गृहस्थ (खाचरौद)

(३१) श्रीमती सुआदेवी घेवरचंदजी के उपधान निमित्ते चंपालाल, दिनेशकुमार, धर्मेन्द्रकुमार, हितेशकुमार, दिलीप, रोशन, नीखील, हर्ष, जैनम, दिवेश बेटा पोता घेवरचंदजी सरेमलजी दुर्गाणी बाकरा. हितेन्द्र मार्केटींग, 11-X-2-Kashi, चेटी लेन, सत्तर शाला कोम्प्लेक्स, पहला माला, चेन्नई-७९.

(३२) मंजुलाबेन प्रवीणकुमार पटीयात के मासक्षमण एवं स्व. श्री भंवरलालजी की स्मृति में प्रवीणकुमार, जीतेशकुमार, चेतन, चिराग, कुणाल, बेटा पोता तिलोकचंदजी धर्माजी पटियात धाणसा. पी.टी.जैन, रोयल सम्राट, ४०६-सी वींग, गोरेगांव (वेस्ट), मुंबई-६२.

(३३) गोल्ड मेडल इन्डस्ट्रीस प्रा. ली., रेवतडा, मुंबई, विजयवाडा, दिल्ली. जुगराज ओटमलजी ए ३०१/३०२, वास्तुपार्क, मलाड (वेस्ट), मुंबई-६४

(३४) राज राजेन्द्र टेक्सटाईल्स, एक्सपोर्टस लिमीटेड, १०१, राजभवन, दौलतनगर, बोरीवली (ईस्ट), मुंबई, मोधरा निवासी.

(३५) प्र. शा. दी. वि. सा. श्री मुक्तिश्रीजी की सुशिष्या मुक्ति दर्शिताश्रीजी की प्रेरणा से स्व. पिताजी दानमलजी, मातुश्री तीजोबाई की पुण्य स्मृति में चंपालाल, मोहनलाल, महेन्द्रकुमार, मनोजकुमार, जितेन्द्रकुमार, विकासकुमार, रविकुमार, रिषभ, मिलन, हितिक, आहोर. कोठारी मार्केटींग, १०/११ चितुरी कॉम्पलेक्ष, विजयवाडा.

(३६) पिताजी श्री सोनराजजी, मातुश्री मदनबाई परिवार द्वारा समेतशिखर यात्रा प्रवास एवं जीवित महोत्सव निमित्ते दीपचंद उत्तमचंद, अशोककुमार, प्रकाशकुमार, राजेशकुमार, संजयकुमार, विजयकुमार, बेटापोता सोनराजजी मेघाजी कटारीया संघवी धाणसा. अलका स्टील ८५७ भवानी पेठ, पूना-२.

(३७) मुनि श्री जयानंद विजयजी आदी ठाणा की निश्रा में सवंत २०६६ में तीर्थेन्द्र नगरे-बाकरा रोड मध्ये चातुर्मास एवं उपधान करवाया उस निमित्ते हस्ते श्रीमती मैतीदेवी पेराजमलजी रतनपुरा वोहरा परिवार-मोधरा (राजस्थान)

(३८) मुनि श्री जयानंद विजयजी आदी ठाणा की निश्रा में सवंत २०६२ में पालीताना में चातुर्मास एवं उपधान करवाया उस निमित्ते शांतीलाल, बाबुलाल, मोहनलाल, अशोककुमार विजयकुमार, श्री हंजादेवी सुमेरमलजी नागोरी परीवार-आहोर.

(३९) संघवी कांतिलाल, जयंतिलाल गणपतराज राजकुमार, राहुलकुमार समस्त श्रीश्रीश्रीमाल गुडाल गोत्र फुआनी परिवार आलासण. संघवी इलेक्ट्रीक कंपनी, ८५, नारायण मुदली स्ट्रीट, चेन्नई-६०० ०७९.

(४०) संघवी भंवरलाल मांगीलाल, महावीर, नीलेश, बन्टी, बेटा पोता हरकचंदजी श्री श्रीमाल परिवार आलासन. राजेश इलेक्ट्रीकल्स ४८, राजा बिल्डींग, तिरुनेलवेली-६२७ ००१.

(४१) शा. कान्तीलालजी, मंगलचन्दजी हरण, दाँसपा, मुंबई.

(४२) शा भंवरलाल, सुरेशकुमार, शैलेषकुमार, राहुल बेटा पोता तेजराजजी संघवी कोमतावाला भीनमाल, एस. के. मार्केटींग, राजरतन इलेक्ट्रीकल्स-२०, सम्बीयार स्ट्रीट, चेन्नई-६०००७९.

(४३) शा समरथमल, सुकराज, मोहनलाल, महावीरकुमार, विकासकुमार, कमलेश, अनिल, विमल, श्रीपाल, भरत फोला मुथा परिवार सायला (राज.) अरुण एन्टरप्राइजेस, ४ लेन ब्राडी पेठ, गुन्टूर-२.

(४४) शा गजराज, बाबुलाल, मीठालाल, भरत, महेन्द्र, मुकेश, शैलेस, गौतम, नीखील, मनीष, हनी बेटा-पोता रतनचंदजी नागोत्रा सोलंकी साँथू (राज.) - फूलचंद भंवरलाल, १८० गोवींदाप्पा नायक स्ट्रीट, चेन्नई-१

(४५) भंसाली भंवरलाल, अशोककुमार, कांतिलाल, गौतमचंद, राजेशकुमार, राहुल, आशीष, नमन, आकाश, योगेश, बेटा पोता लीलाजी कसनाजी मु. सुरत. फर्म : मंगल मोती सेन्डीकेट, १४/१५ एस. एस. जैन मार्केट, एम. पी. लेन, चीकपेट क्रोस, बेंगलोर-५३.

(४६) बल्लु गगनदास विरचंदभाई परिवार, थराद.

(४७) श्रीमती मंजुलादेवी भोगीलाल वेलचन्द संघवी धानेरा निवासी. फेन्सी डायमण्ड, ११ श्रीजी आर्केड, प्रसाद चेम्बर्स के पीछे, टाटा रोड नं.१-२, ऑपेरा हाऊस, मुंबई-४.

(४८) शा शांतिलाल उजमचंद देसाई परिवार, थराद, मुंबई. विनोदभाई, धीरजभाई, सेवंतीभाई.

(४९) बंदा मुथा शांतिलाल, ललितकुमार, धर्मेश, मितेश, बेटा पोता मेघराजजी फुसाजी ४३, आइदाप्पा नायकन स्ट्रीट, साहुकार पेट, धाणसा हाल चेन्नई-७९.

(५०) श्रीमती बदामीदेवी दीपचंदजी गेनाजी मांडवला चेन्नई निवासी के प्रथम उपधान तप निमित्ते. हस्ते परिवार.

(५१) श्री आहोर से आबू-देलवाडा तीर्थ का छरि पालित संघ निमित्ते एवं सुपुत्र महेन्द्रकुमार की स्मृति में संघवी मुथा मेघराज, कैलाशकुमार, राजेशकुमार, प्रकाशकुमार, दिनेशकुमार, कुमारपाल, करण, शुभम, मिलन, मेहुल, मानव, बेटा पोता सुगालचंदजी लालचंदजी लूंकड परिवार आहोर. मैसुर पेपर सप्लायर्स, ५, श्रीनाथ बिल्डींग, सुल्तान पेट सर्कल, बेग्लोर-५३.

(५२) एक सद्गृहस्थ बाकरा (राज.)

(५३) माइनोक्स मेटल प्रा. लि., (सायला), नं. ७, पी. सी. लेन, एस. पी. रोड क्रॉस, बेग्लोर-२, मुंबई, चेन्नई, अहमदाबाद.

(५४) श्रीमती प्यारीबाई भेरमलजी जेठाजी श्रीश्रीश्रीमाल अग्नि गौत्र, गांव-सरत.

(५५) स्व. पिताश्री हिराचंदजी, स्व. मातुश्री कुसुमबाई, स्व. जेष्ठ भ्राताश्री पृथ्वीराजजी, श्री तेजराजजी आत्मश्रेयार्थ मुथा चुन्निलाल, चन्द्रकुमार, किशोरकुमार, पारसमल, प्रकाशकुमार, जितेन्द्रकुमार, दिनेशकुमार, विकाशकुमार, कमलेश, राकेश, सन्नि, आशिष, नीलेश, अंकुश, पुनीत, अभिषेक, मोन्टु, नितिन, आतिश, निल, महावीर, जैनंम, परम, तनमै, प्रनै, बेटा पोता, प्रपोता लडपोता हिराचंदजी, चमनाजी, दांतेवाडिया परिवार, मरुधर में आहोर (राज.). फर्म : हीरा नोवेल्टीस, फ्लॉवर स्ट्रीट, बल्लारी.

(५६) मुमुक्षु दिनेशभाई हालचंद अदानी की दीक्षा के समय आई हुई राशी में से हस्ते हालचंदभाई वीरचंदभाई परिवार थराद, सुरत.

(५७) श्रीमती सुआबाई ताराचंदजी वाणी गोता बागोड़ा. बी. ताराचंद अॅण्ड कंपनी, ए-१८, भारतनगर, ग्रान्ट रोड, मुंबई-४०० ००७.

(५८) २०६९ में मु. जयानंद वि. की निश्रा में श्री बदामीबाई तेजराजजी आहोर, इन्द्रादेवी रमेशकुमारजी गुडा बालोतान एवं मूलीबाई पूनमचंदजी साँथू तीनों ने पृथक्-पृथक् नव्वाणु यात्रा करवायी, उस समय आयोजक एवं आराधकों की ओर से उद्यापन की राशी में से। पालीताना.

(५९) शा जुगराज फूलचंदजी एवं सौ. कमलादेवी जुगराजजी श्रीश्रीश्रीमाल चन्द्रावण गोता के जीवित महोत्सव पद्मावती सुनाने के प्रसंग पर - कीर्तिकुमार, महेन्द्रकुमार, निरंजनकुमार, विनोदकुमार, अमीत, कल्पेश, परेश, मेहुल वेश आहोर. महावीर पेपर अॅण्ड जनरल स्टोर्स, २२-२-६, क्लोथ बाजार, गुन्टुर.

(६०) शा जुगराज, छगनलाल, भंवरलाल, दरगचंद, घेवरचंद, धाणसा. मातुश्री सुखीबाई मिश्रीमलजी सालेचा. फर्म : श्री राजेन्द्रा होजीयरी सेन्टर, मामुल पेट, बेंग्लोर-५३.

सह संरक्षक

(१) शा तीलोकचंद मयाचन्द एन्ड कं. ११६, गुलालवाडी, मुंबई-४

(२) शा ताराचंद भोनाजी आहोर मेहता नरेन्द्रकुमार एण्ड कुं. पहला भोईवाडा लेन, मुंबई नं. २.

(३) स्व. मातृश्री मोहनदेवी पिताजी श्री गुमानमलजी की स्मृति में पुत्र कांतिलाल जयन्तिलाल, सुरेश, राजेश सोलंकी जालोर. प्रविण एण्ड कं. १५-८-११०/२, बेगम बाजार, हैदराबाद-१२.

(४) १९९२ में बस यात्रा प्रवास, १९९५ में अट्ठाई महोत्सव एवं संघवी सोनमलजी के आत्मश्रेयार्थे नाणेशा परिवार के प्रथम सम्मेलन के लाभ के उपलक्ष्य में संघवी भबुतमल जयंतिलाल,

प्रकाशकुमार, प्रविणकुमार, नवीन, राहुल, अंकूश, रितेश नाणेशा, प्रकाश नोवेल्टीज्, सुन्दर फर्नीचर, ७९४, सदाशीव पेठ, बाजीराव रोड, पूना-४११ ०३० (सियाणा)

(५) सुबोधभाई उत्तमलाल महेता धानेरा निवासी, कलकत्ता.

(६) पू. पिताजी ओटमलजी मातुश्री अतीयाबाई प. पवनीदेवी के आत्मश्रेयार्थ किशोरमल, प्रवीणकुमार (राजु) अनिल, विकास, राहुल, संयम, ऋषभ, दोशी चौपड़ा परिवार आहोर, राजेन्द्र स्टील हाउस, ब्राडी पेठ, गुन्टुर (A.P.)

(७) पू. पिताजी शा प्रेमचंदजी छोगाजी की पुण्यस्मृति में मातुश्री पुष्पादेवी. सुपुत्र दिलीप, सुरेश, अशोक, संजय वेदमुथा रेवतडा, (राज.) चेन्नई. श्री राजेन्द्र टॉवर नं.१३, समुद्र मुद्दाली स्ट्रीट, चेन्नई.

(८) पू. पिताजी मनोहरमलजी के आत्मश्रेयार्थ मातुश्री पानीदेवी के उपधान आदि तपश्चर्या निमित्ते सुरेशकुमार, दिलीपकुमार, मुकेशकुमार, ललितकुमार, श्रीश्रीश्रीमाल, गुडाल गोत्र नेथीजी परिवार आलासण. फर्म : M. K. Lights, ८९७, अविनाशी रोड, कोइम्बटूर-६४१ ०१८.

(९) गांधि मुथा, स्व. पिताजी पुखराजजी मातुश्री पानीबाई के स्मरणार्थ हस्ते गोरमल, भागचन्द, नीलेश, महावीर, वीकेश, मीथुन, रीषभ, योनिक बेटा पोता पुखराजजी समनाजी गेनाजी सायला, वैभव ए टु झेड डोलार शोप वासवी महल रोड, चित्रदूर्गा.

(१०) श्रीमती शांतिदेवी मोहनलालजी सोलंकी के द्वितीय वरसीतप के उपलक्ष में हस्ते मोहनलाल विकास, राकेश, धन्या बेटा पोता गणपतचंदजी सोलंकी जालोर, महेन्द्र ग्रुप, विजयवाडा (A.P.)

(११) पू. पिताजी श्री मानमलजी भीमाजी छत्रिया वोरा की पुण्य स्मृति में हस्ते मातुश्री सुआदेवी. पुत्र मदनलाल, महेन्द्रकुमार, भरतकुमार. पौत्र नितिन, संयम, श्लोक, दर्शन सूराणा निवासी कोइम्बटूर.

(१२) स्व. पू. पिताजी श्री पीरचंदजी एवं स्व. भाई श्री कांतिलालजी की स्मृति में माताजी पातीदेवी पीरचंदजी, पुत्र : हस्तीमल, महावीरकुमार, संदीप, प्रदीप, विक्रम, नीलेष, अभीषेक, अमीत, हार्दिक, मानू, तनीश, यश, पक्षाल, नीरव बेटा पोता परपोता पीरचंदजी केवलजी भंडारी-बागरा. पीरचंद महावीरकुमार-मैन बाजार, गुन्टुर.

(१३) श्री सियाणा से बसद्वारा शत्रुंजय-शंखेश्वर छ रि पालित यात्रा संघ २०६५ हस्ते संघवी प्रतापचंद, मूलचन्द, दिनेशकुमार, हितेशकुमार, निखिल, पक्षाल, बेटा पोता पुखराजजी बाल गोता सियाणा. फर्म : जैन इन्टरनेशनल, ९५, गोवींदाप्पा नायकन स्ट्रीट, चेन्नई.

(१४) स्व. पू. पि. शांतिलाल चीमनलाल बलु मातुश्री मधुबेन शांतिलाल, अशोकभाई सुरेखाबेन आदी कुमार थराद, अशोकभाई शांतिलाल शाह. २०१, कोश मेश अपार्टमेन्ट, भाटीया स्कूल के सामने, सांईबाबा नगर, बोरीवली (प.), मुंबई-४०० ०७२.

(१५) शा जीतमलजी अन्नाजी मु.पो. नासोली भीनमाल, अशोक गोल्ड शोप नं. ७, काका साहेब गाडगील मार्ग, खेड गली (प्रभादेवी), दादर, मुंबई-४०० ०२५.

निवेदन

श्री नेमिचंद बाठिया का निवेदन कुछ सुधारकर दिया है।

धर्म का उद्‌गम स्थान वीतराग सर्वज्ञ सर्वदर्शी तीर्थंकर भगवान् हैं, उन्होंने आत्मा के आध्यात्मिक उत्थान का सबसे पहला चरण सम्यग्‌दर्शन बतलाया है। सम्यग्‌दर्शन का अर्थ-आत्मोत्थान विषयक यथार्थ दृष्टि-सम्यग्‌दृष्टि, तत्त्व विषयक वास्तविक विश्वास अथवा ध्येय शुद्धि। किसी भी कार्य में प्रवृत्त होने वाले की सफलता का मूलाधार ही यथार्थ दृष्टि होती है, दृष्टि विकार के चलते कार्य सिद्धि नहीं हो सकती। जन्म, जरा, रोग, शोक आदि दुःखों से सर्वथा छूटकर शाश्वत परम सुख की प्राप्ति का नाम मोक्ष है, उस मोक्ष प्राप्ति के उपाय रूप तत्त्वों की सत्य समझ ही सम्यग्‌दर्शन है।

हाँ तो सम्यग्‌दर्शन मोक्षमार्ग का पहला चरण है। उस मोक्षमार्ग के प्रथम चरण को प्राप्त कर स्थिर बनाये रखने के लिए पहली शर्त है कि साधक तीर्थंकर भगवन्त की सर्वज्ञता पर विश्वास करे एवं उनके द्वारा प्ररूपित जीवादि नवतत्त्व, देव, गुरु, धर्म आदि के स्वरूप को समझकर श्रद्धा के साथ उन्हें स्वीकार करें। देव, गुरु धर्म के विषय में आवश्यक सूत्र में इस प्रकार का पाठ है, जिसे संथारा पोरिसी पढ़ते समय बोला जाता है।

अरिहंतो मह-देवो, जावज्जीवं सुसाहुणो गुरुणो ।
जिणपण्णत्तं तत्तं, इअ सम्मत्तं मए गहियं ॥

इस पाठ से सम्यक्त्व ग्रहण करने वाला साधक प्रतिज्ञा करता है कि 'अरिहन्त भगवन्त ही मेरे देव होंगे, सुसाधु ही मेरे गुरु होंगे और जिनेश्वर प्रणीत तत्त्व ही मेरा धर्म होगा। यह सम्यक्त्व मैं जीवनपर्यन्त के लिए ग्रहण करता हूँ।'

इस प्रकार अन्तर हृदय की अभिव्यक्ति ही सम्यक्त्व है।

ऐसे निर्दोष पवित्र सम्यक्त्व के पाठ में सम्यक्त्व दिलाने वाले कितनेक(अ)साधु गुरु अपना नाम घुसेड़ कर उसे दूषित ही नहीं अपितु

जहरीला बना डालते हैं।

उक्त पाठ में तीन तत्त्वों (देव, गुरु, धर्म) पर श्रद्धा कर उसे स्वीकार करने की बात कही गयी है। इसमें विशेष नोट करने की बात है कि देव तत्त्व और धर्म तत्त्व के साथ प्रभु ने 'सु' शब्द का प्रयोग नहीं किया है। इसका कारण स्पष्ट है कि 'देवतत्त्व' से अरिहन्त भगवन्तों को लिया गया है, वे अपने आप में ही 'सु' है, क्योंकि चार घाती कर्मों का सम्पूर्ण क्षय होने पर जब वीतरागता प्रकट होती है तब अरिहंत पद की प्राप्ति होती है । वे अठारह दोष रहित एवं सर्वज्ञता के बारह गुण सहित होते हैं । अत एव उनमें एवं उनके द्वारा प्ररूपित वाणी में अंश मात्र दोष की संभावना रहती ही नहीं है । अत एव आगमकार महर्षियों ने उनके लिए 'सु' शब्द का प्रयोग नहीं किया। 'सु' शब्द का प्रयोग किया गया है मात्र 'गुरु पद' के लिए अर्थात् 'सुसाहुणो गुरुणो'। इससे स्पष्ट है, सर्वज्ञ सर्वदर्शी प्रभु ने अपने समय में गोशालक जैसे कुगुरु को देखा और पंचम आरे में 'बहुतायत' में 'कुगुरुओं' की संभावना को अपने केवलज्ञान में देखकर ''सम्यक्त्व के पाठ'' में स्पष्ट संकेत कर दिया कि-'सुसाहुणो गुरुणो' अर्थात् मात्र सुसाधु ही मेरे गुरु होंगे। सुसाधु से आशय, नमस्कार सूत्र के पांचवें पद में साधु के २७ गुण बतलाये गये हैं, उनके धारक ही मेरे गुरु होंगे। इन गुणों से रहित ''कुगुरु'' मेरे गुरु नहीं होंगे। **गुण रहित 'कुगुरु' को गुरु पद में स्वीकार करने का मतलब अपने स्वीकृत सम्यक्त्व से त्याग पत्र देकर मिथ्यात्व में प्रवेश करने का प्रमाण-पत्र प्राप्त करना ।**

इस संदर्भ में एक और नोट करने योग्य बात उक्त पाठ में बतलायी गयी है। जो 'गुरुणो' शब्द आया है, वह बहुवचन का द्योतक है। अर्थात् ढाई द्वीप रूप लोक में जितने (जघन्य दो हजार करोड़ उत्कृष्ट नव हजार करोड़) सुसाधु हैं वे सभी मेरे गुरु रूप हैं। अत एव अपने कुगुरुओं द्वारा दी गई सीख से यह कहना कि 'गुरु एक, सेवा अनेक' यानी गुरु तो मात्र हमें ही मानें बाकी अन्य सुसाधुओं को गुरु नहीं मानना, उनकी तो सेवा मात्र करना। क्या इस प्रकार श्रावक वर्ग का बरगलाना प्रभु आज्ञा का स्पष्ट अतिक्रमण, उल्लंघन, भंग नहीं है? प्रभु तो उक्त पाठ में स्पष्ट संकेत करते हैं कि लोक के समस्त सुसाधुओं को गुरु पद से

स्वीकार करे जबकि 'कुगुरु' अपने भक्तों को गुर देते हैं 'गुरु एक, सेवा अनेक' अर्थात् मात्र हमें ही गुरु रूप में माने अन्य को नहीं। सुज्ञ वर्ग चिंतन मनन करावे कि सर्वज्ञ वीतराग प्रभु की बात को मान्यता देनी अथवा कुगुरुओं की सीख को ।

बंधुओ! वर्तमान में ही कुगुरुओं का बाहुल्य एवं बोलबाला है, ऐसी बात नहीं है । वीर प्रभु के निर्वाण के एक हजार वर्ष बाद से ही (पूर्वधरों का व्यवच्छेद हो जाने के कारण) समय-समय पर साधु वर्ग में उतार-चढ़ाव के दौर चलते रहे और आगे भी चलेंगे। पूर्व में जब-जब कुगुरुओं का जोर बढ़ा, तो अनेक महापुरुषों ने अपने त्याग वैराग्य के बल पर समाज में चेतना का संचार किया, क्रियोद्धार किया। क्रियोद्धार केवल लम्बे-चौड़े धुंआधार भाषण झाड़ने से नहीं हुआ, क्रियोद्धार हुआ उनके चलते-फिरते जीवन्त आचरण से, उनका जीवन अपने आप में बोलता था कि साधु जीवन क्या होता है? जितना असर उपदेश का नहीं होता उससे कई गुना अधिक असर उनके आचरण का होता है।

प्रस्तुत पुस्तक में आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी ने अपने समय के कुसाधुओं के कार्य-कलापों का जीवन्त चित्रण किया है, जिस प्रकार चश्मदीद गवाह जैसा अपनी आंखों से देखता है वैसा ही रू-ब-रू बयान करता है, उसी प्रकार आचार्यश्री ने अपने समय के कुसाधुओं का लेखाजोखा बड़ी पीड़ा के साथ किया है, साथ ही कुसाधुओं की संगति करने वाले श्रावक-श्राविका को कितना नुकसान होता है, इसका भी स्थान-स्थान पर संकेत किया है।

[प्रभु श्रीमद् विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजीने भी शिथिलाचार की प्राबल्यता को मिटाने के लिए वि. १९२५ शास्त्रीय मिति आषाड़ वदि १० को क्रियोद्धार किया था।]

यद्यपि सम्पूर्ण पुस्तक को पढ़ने पर सुसाधु एवं कुगुरुओं के स्वरूप के साथ कुसाधुओं की संगति से होने वाली हानियों का बोध हो जायगा, फिर भी कुछ बातों के नमूने बतौर यहाँ दीये जा रहे हैं-

१.कुसाधुओं को सुसाधुओं की तरह सम्मान देने से मिथ्यात्व भी

लगता है और असंयमियों का अनुमोदन होता है। जिससे जिन धर्म की अवहेलना का पाप लगता है ।

२. कुशीलियों को आदर सम्मान देने वाला, उनका पक्ष करने वाला और तटस्थ रहकर निष्क्रिय रहने वाला, कदाचार का समर्थक पोषक एवं चाहक है। वह धर्म शासनाधीश भगवान् महावीर के उत्तमोत्तम धर्म, उत्तम आचार का विरोधी एवं शोषक है ।

३.सावद्य आचरण करने वाले एवं जिनेश्वर की आज्ञा का भंग करने वाले कुमार्गी साधु तो अधर्मी है ही। उन अधर्मियों को वंदनादि करना अधर्म समर्थन एवं धर्म का खण्डन करना है ।

४.किसी व्यक्ति की गाढ़ी कमाई का धन, कोई चोर लूट ले तो वह लुटाया हुआ व्यक्ति, चोर को आशीर्वाद नहीं देगा। उसकी आत्मा में कितना दुःख होता है-यह समझना बिलकुल सरल है। उसी प्रकार निर्ग्रन्थ धर्म के रसिकों-प्रेमियों के सामने जब असाधुता के प्रसंग उपस्थित हों, बढ़-चढ़कर आरम्भ समारम्भमय प्रवृत्तियाँ होती हों, सावद्य कार्य किये कराये जाते हों, नये-नये आडम्बर किये जाते हों, साधु वेशधारी साहूकार धर्मरूपी धन को लूट रहे हों, अहिंसक वेशधारी हिंसक कार्यों में संलग्न हों, तो उन्हें भारी दुःख होता है ।

५. जिस प्रकार दुराचारिणी को सदाचारिणी नहीं सुहाती, वह उसे देखकर जलती है, उससे द्वेष करती है, उसका अनिष्ट चाहती है, उसी प्रकार कुसाधु को सुसाधु नहीं सुहाते हैं, वे सुसाधुओं से द्वेष करते हैं, उनकी निंदा करते हैं, अपमान करते हैं, अपने बचाव के लिए कहा करते हैं कि-'अभी पंचम काल' में शुद्ध संयम के पालन करने वाले कहां है? जो शुद्धाचारी है, वे ढोंगी हैं, कपटी हैं, हम ढोंग करना नहीं जानते जैसे पले वैसा पालते हैं ।

यानी गंजे को सारी दुनिया गंजी ही नजर आती है ।

बंधुओ! धर्मप्रिय जन को धर्म की दुर्दशा देखकर खेद होना स्वाभाविक है। जिसके हृदय में अपनी पवित्र संस्कृति के प्रति प्रेम हो, वह बिगड़ती हुई स्थिति में मूक नहीं रह सकता। आचार्य श्री भी चुप नहीं रह

सके, उन्होंने अपना कर्त्तव्य निभाया। परिणाम चाहे कुछ भी रहा हो। यद्यपि आचार्य के हृदय से निकलने वाले कठोर शब्द एवं अधम उपमाएं किसी को खटकने वाली हो सकती है, किन्तु यदि गहराई एवं तटस्थ बुद्धि से चिंतन किया जाय तो स्पष्ट है, उनका किसी के प्रति द्वेष अथवा वैर भाव नहीं था। मात्र श्रमण धर्म की पवित्रता बनाये रखने की भावना से प्रेरित होकर एवं दुराचारियों से संघ को बचाने के शुभ भाव से कठिन शब्दों का प्रयोग किया है । ऐसे शब्दों के नमूने आगम में मिलते हैं। किन्तु आज के समाज सुधारक कहलाने वाले लोग संस्कृति घातकों के साथ सम्मान सूचक शब्दों का व्यवहार करने की सलाह देते हैं। जो एक दम अनुचित है। धर्मघातकों एवं दुराचारियों के साथ सम्मान सूचक व्यवहार करना दुराचार को पोषण देना है। उनका तो खुला बहिष्कार होना चाहिए, तब ही समाज में सुधार संभव है ।

प्रस्तुत पुस्तक की लेखमाला सम्यग्दर्शन पत्रिका में ५अगस्त २००१ से ५अगस्त २००३ तक अंकों में चली। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में इस प्रकार की पुस्तक का प्रकाशन एवं समाज में प्रचारित होना अत्यन्त आवश्यक है, ***क्योंकि वर्तमान में हमारे समाज का साधु वर्ग जिस दौर में गुजर रहा है, वह दौर आचार्य श्री हरिभद्रसूरि जी के समय से भी शिथिलता में आगे बढ़ा हुआ है।*** ऐसे समय में समाज को आगाह करना आवश्यक ही नहीं अपितु अनिवार्य है ताकि समाज में चेतना का संचार हो, इसी भावना को लेकर इसका प्रकाशन किया जा रहा है। इस पुस्तक को स्वयं पढ़े और अपने सभी मिलने वालों को पढ़ावे, चतुर्विध संघ सत्य धर्म को जोड़ने में पुरुषार्थ करें । ''नेमिचंद बांठिया''

यह पुस्तक कुगुरु गुर्वाभास स्वरूप के नाम से ब्यावर से अ. भा. सुधर्म संस्कृति रक्षक संघ जोधपुर से छपी थी। उसमें सुधारकर वंदनीयव्यक्ति अवंदनीय कैसे हो जाते हैं, यह दर्शाने के लिए वंदनीय-अवंदनीय नाम से छपवायी है। लाभान्वित बनें। इसमें श्री राजशेखरसूरिजी संपादित संबोध प्रकरण में से गाथाओं के मूल स्थान दिये है । यही। पुस्तक स्वयं, जो कहना है, वह कह रही है अतः प्रस्तावना में विशेष कुछ नहीं लिखा।

- जयानंद

विषयानुक्रमणिका

क्रमांक	विषय	पृष्ठ
१.	सुगुरु	२
२.	कुगुरु	२
३.	पार्श्वस्थ	२
४.	अवसन्न	३
५.	कुशील	४
६.	संसक्त	४
७.	लोहशिला के समान डुबाने वाले	५
८.	विष्ठा गत मालावत्	६
९.	चाण्डाल और उसके साथी के समान	७
१०.	वह दुर्लभबोधि है	८
११.	कुशीलियों का पक्ष भी हेय	९
१२.	श्रावकों को नहीं बताना?	१०
१३.	उन्मार्ग देशक	११
१४.	दुर्गति में धकेलने वाले	११
१५.	वेशविडम्बक	११
१६.	गृहस्थवत्	१२
१७.	संगति के भी अयोग्य	१४
१८.	दुष्ट गच्छ	१५
१९.	चोरों का समूह	१६
२०.	मंगत	१८
२१.	धर्म पिशाच	१८
२२.	आज्ञा भंग का परिणाम	१९
२३.	विष तुल्य	१९
२४.	उज्ज्वल वस्त्र	२०
२५.	निरंकुश बैल	२१
२६.	भ्रष्टाचार का पाप	२२
२७.	पेट भरे, लोभी, मूर्ति बेचने वाले	२५

२८. संग्रहखोर २६
२९. श्रावक भी जिम्मेदार २७
३०. प्रतिमा की रखवाली और उत्सव प्रियता २९
३१. हजामत ३०
३२. चैत्यवासी पूजारंभी देवद्रव्य-भोगी ३०
३३. पतन के निम्नतम चरण ३३
३४. सुसाधुओं के द्वेषी ३५
३५. व्यभिचारी ३६
३६. स्वार्थ प्रेरित तप ३७
३७. पूजा का उपदेश और उपदेश पर कर ३८
३८. यक्षादि के पूजक ३९
३९. समाधि सर्जक ३९
४०. स्त्रीराज्य ४०
४१. अधर्मी ४१
४२. धर्म-घातक को नमस्कार कैसा? ४१
४३. वेश की अवंदनीयता ४२
४४. पट्टा किसे बतावें ४३
४५. कुगुरुओं का झूठा बचाव ४४
४६. आचार्य की शुद्धता ४७
४७. चाण्डाल की तरह त्याज्य ४८
४८. आचार्य का भी त्याग ५०
४९. संग्रह खोर आचार्य ५१
५०. उन्मार्ग पक्षी आचार्य ५२
५१. असंयमी गच्छ त्याज्य है ५४
५२. शरणागत घातक आचार्य ५७
५३. उन्मार्गी आचार्य ५८
५४. इन्हें त्याग दो ५९
५५. दुराचारियों की संगति से मर जाना श्रेष्ठ ६०
५६. संगति का प्रभाव ६१
५७. शिष्य का प्रश्न ६२

५८.	आचार्य श्री का उत्तर	६३
५९.	जिनेश्वरों की आज्ञा	६४
६०.	उत्सूत्राचरण का फल	६६
६९.	ऐसे साधु पिशाचों को वंदना महापाप है	६९
६२.	कुगुरु वंदनादि का प्रायश्चित्त	७०
६३.	दुराचारियों का कु-संघ	७१
६४.	आज्ञा-भ्रष्टों के समूह को संघ मत कहो	७३
६५.	साँप के समान विषैला संघ	७५
६६.	फूटे हुए अंडे के समान	७६
६७.	कौए के समान विष्ठा खाने वाले	७७
६८.	हड्डियों का ढेर	७८
६९.	कुशीलियों के सहायक भी दोषी	७९
७०.	मध्यस्थ रहने वाले भी व्रत लोपक हैं	८०
७१.	ऐसों को उपदेश अनुज्ञा भी नहीं	८३
७२.	कुसंघ से तो नरक अच्छा	८३
७३.	बहुरुपिये जैसे	९१
७४.	दसवां आश्चर्य	९२

।। श्री चमत्कारी पार्श्वनाथाय नमः ।।

।। प्रभु श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरीश्वराय नमः ।।

वंदनीय-अवंदनीय

('सम्बोध प्रकरणम्' ग्रंथ, आचार्य श्री हरिभद्रसूरिजी की रचना है। इसमें देव, गूरु, सम्यक्त्व, श्रावकत्व आदि अनेक विषयों पर व्यवस्थित गाथा-बद्ध विवेचन किया गया है। इसके कुल ६२ पत्र हैं। यह अप्राप्य है। किंतु बाद में श्रीमेरुविजयजी गणि का मात्र अनुवाद प्रकाशित हुआ है। श्री हरिभद्रसूरिजी का समय विक्रमीय आठवीं शताब्दि माना जाता है। 'कुगुरु गुर्वाभास पार्श्वस्थादि स्वरूप' बताने वाला दूसरा अधिकार १७१ गाथाओं में पूरा हुआ है। इसमें इस विषय को बड़े विस्तार से उपस्थित करते हुए आचार्यश्री ने अपने समय की दशा का भी वर्णन किया है । यह विषय भी पाठकों के समझने योग्य है । यहां क्रमशः मूल के साथ अनुवाद उपस्थित किया जा रहा है-संपादक)

अह सुगुरूणुवएसो निक्खेवाईहि चउप्पयारोवि।
नामाइविभेएहिं दव्वाइहिं तहा जाण ।।१।।

अब सुगुरु के उपदेश से नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव, इन चार प्रकार के निक्षेप से गुरु जानना चाहिए ।।१।।

केवलनामेण गुरू ठवणगुरू अक्खपडिमरूवेहिं ।
दव्वेण लिंगधारी भावे संजलकसाएहिं ।।२।।

केवल नाम से कहलाने वाले नामगुरु, अक्ष तथा प्रतिमादि रूप स्थापना गुरु, साधु का वेश धारण करने वाले द्रव्यगुरु और अनन्तानुबन्धी आदि कषाय की तीन चौकड़ी से रहित-संज्वलन

कषाय वाले भाव गुरु हैं। ये ही सुगुरु हैं । ।।२।।

तहियाण इमे तहिया वितहा वितहाण जोगजुत्ताणं ।
दव्वाइविभेएहिं वेसपमाणेहिं भइयव्वा ।।३।।

यथार्थ योग युक्त (संयम और तप से युक्त) गुरु के चारों निक्षेप सत्य और अयथार्थ योग युक्त हो तो असत्य हैं । वेश के प्रमाण से द्रव्यादि भेद युक्त चारों निक्षेप भजना से जानना चाहिए। अर्थात् केवल वेशधारी-गुणरहित गुरु वर्जनीय है और गुणयुक्त साधु वेशधारी भावगुरु आदरणीय हैं। वेश की अपेक्षा आदरणीय, अनादरणीय की भजना है ।।३।।

सुगुरु

गुणओब्भिंतरभावे, अणगारनियंठसाहुमुणिपमुहा ।
पज्जाया उवमा पुण, पसन्नचित्ताइगुणविहाणा ।।४।।

जो गुणसहित आभ्यंतर भाव में रमने वाले हों, वे सुगुरु हैं। वे अनगार, निर्ग्रंथ, साधु, मुनि इत्यादि अनेक नामों से जाने जाते हैं। वे प्रसन्न चित्त वाले और अनेक प्रकार के गुणों एवं उपमाओं से युक्त होते हैं ।।४।।

ससरीरेवि निरीहा, बज्झब्भंतरपरिग्गहविप्पमुक्का ।
धम्मोवगरणमित्तं, धरंति चारित्तरक्खट्ठा ।।५।।

जो अपने शरीर के प्रति भी उपेक्षा रखते हैं, जो बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह से रहित हैं, जो धर्मोपकरण को मात्र चारित्र रक्षण के लिए ही धारण करते हैं, वे गुरु होते हैं ।।५।।

पंचेंदियदमणपरा, जिणुत्तसिद्धंतगहियपरमत्था ।
पंचसमिया तिगुत्ता, सरणं मह एरिसा गुरुणो ।।६।।

जो अपनी पाँचों इन्द्रियों को वश में रखने में तत्पर हैं, जो

जिनेश्वर प्ररूपित सिद्धांत का परमार्थ ग्रहण किये हुए हैं, जो पांच समिति और तीन गुप्ति से युक्त हैं, ऐसे गुरु मेरे लिये शरणभूत होवें ।।६।।

लक्खिज्जइ सो सुगुरू, सद्धाकरणोवएसलिंगेहिं ।
अनिगूहंतो अप्पं, सव्वत्थ सुसील सुचरित्तो ।।७।।

ऐसे सुगुरु श्रद्धा, क्रिया, उपदेश और लिंग, इन चार भेदों से पहिचाने जाते हैं। वे अपनी आत्मा के सामर्थ्य को नहीं छुपाकर यथाशक्ति पराक्रम करते हुए उत्तम शील और उत्तम चारित्र से सर्वत्र विचरते हैं ।।७।।

कुगुरु

१ पासत्थो २ ओसन्नो, होइ ३ कुसीलो तहेव ४ संसत्तो ।
५ अहच्छंदो वि य एए, अवंदणिज्जा जिणमयम्मि ।।८।।

१ पार्श्वस्थ २ अवसन्न ३ कुशील ४ संसक्त और ५ यथाछन्द, ये पांच प्रकार के साधु, जैन सिद्धान्त में अवन्दनीय हैं ।।८।।

पार्श्वस्थ

सो पसत्थो दुविहो, सव्वे देसे य होइ नायव्वो ।
सव्वंमि नाणदंसण-चरणाणं, जो उ पासम्मि ।।९।।

पार्श्वस्थ दो प्रकार के होते हैं-१ सर्व पार्श्वस्थ और २ देश पार्श्वस्थ । सभी क्रियाओं में ज्ञान, दर्शन और चारित्र के पार्श्व (ज्ञानादि में नहीं, किंतु ज्ञानादि के पार्श्व-बगल में रहे। जो अपने ज्ञानादि के घर में नहीं रहकर पड़ोस) में रहे, वे चारित्र से रहित मात्र वेशधारी सर्व पार्श्वस्थ हैं ।।९।।

देसम्मि य पासत्थो, सिज्जाहरभिहडरायपिंडं च ।
नीयं च अग्गपिंडं, भुंजइ निक्कारणे चेव ।।१०।।

शय्यातर पिंड, अभिहडपिंड (सामने लाकर दिया हुआ) राजपिंड, नित्यपिंड और अग्रपिंड जो अकारण भोगता है, वह देश पार्श्वस्थ है ।।१०।।

कुलनिस्साए विहरइ, ठवणकुलाणि य अकारणे विसइ।
संखडिपलोयणाए, गच्छइ तह संथवं कुणइ ।।११।।

अकारण कुल की निश्रा में विचरे (अपने प्रतिष्ठित कुल-गच्छ को बताकर आहारादि प्राप्त करे) और बिना कारण स्थापनाकुलों में (जो भिक्षा देने के लिए आहारादि रख छोड़ते हैं वे अथवा जो कुल अपरिभोग रूप में हैं वे) आहारादि के लिए जाते हैं, जो जीमणवार-सामूहिक भोज में मिष्ठान्नादि के लिए जाते हैं और आहारादि के लिए प्रशंसा अथवा स्तुति करते हैं, वे देश पार्श्वस्थ हैं ।।११।।

अवसन्न

ओसन्नो वि य दूविहो, सव्वे देसे य तत्थ सव्वंमि ।
उउबद्धपीढफलगो, ठवियगभोई व नायव्वो ।।१२।।

अवसन्न साधु भी सर्व और देश-ऐसे दो प्रकार के होते हैं। जो ऋतुबद्धपीठ फलक (चातुर्मास के सिवाय आठ मास की 'ऋतुबद्ध' संज्ञा है । इन आठ मास में पाट आदि पर अविधि से काम में लेने वाला और स्थापना (साधु को देने के लिए रख छोड़ा) भोजी हो। उसे 'सर्व अवसन्न' जानना चाहिए ।।१२।।

आवस्सयसज्झाए, पडिलेहणझाणभिक्खभत्तट्ठे ।
आगमणेनिग्गमणे, ठाणे अ निसीयण तुयट्टे ।।१३।।

आवश्यक में, स्वाध्याय, प्रतिलेखन, ध्यान, भिक्षा और

भोजन में, आने, जाने, खड़े रहने, बैठने और सोने में जो शिथिलता रखता हो ।।१३।। [गु.त.वि.उ. ३ गाथा ८५]

आवस्सयाइं न करइ, अहवा य करेइ हीणमहियाइं ।
गुरुवयणबला वि य, तहा भणिओ देसावसन्नोत्ति ।।१४।।

जो आवश्यकादि क्रिया नहीं करता हो, या करता हो तो भी हीनाधिक करता हो, वैसे ही गुरुवचन-बल-गुरु के विशेष रूप से कहने पर करता हो, वह देश अवसन्न है ।।१४।।

कुशील

कालविणयाइरहिओ, नाणकुसीलो य दंसणे इणमो ।
निस्संकियाइरहिओ, चरणकुसीलो इमो तिविहो [होइ] ।।१५।।

ज्ञान के काल विनयादि आठ आचार से रहित-ज्ञानकुशील, दर्शन के निःशंकितादि आठ आचार से रहित-दर्शन कुशील और तीसरा चारित्रकुशील, ये कुशील तीन प्रकार के होते हैं ।।१५।।

कोउयभूईकम्मे, पसिणापसिणे निमित्तमाजीवी ।
कक्ककरुयाइलक्खण-मुवजीवइ विज्जमंताइं ।।१६।।

कौतुक कर्म (हाथ की सफाई-चालाकी आदि से आश्चर्य उत्पन्न करना अथवा पर के सौभाग्यादि के लिए स्नानादि करना करवाना) भूतिकर्म (भभूति, वासक्षेप से रोगादि की उपशांति करवाना) प्रश्नाप्रश्न (स्वप्नादि का लाभालाभ बताना) निमित्त (भूत, भविष्य बताना) आजीविका (जाति, शिल्प, तप, ज्ञानादि विशेषता बताकर आहारादि लेना) कक्ककुरुता (कल्क-प्रसूति आदि के लिए क्षारपातन अथवा उबटन, करुक्क-स्नान करवाना अथवा धूर्तता करना) लक्षण (हस्तरेखादि से लक्षण बताना)

और विद्या मन्त्रादि से आजीविका करना। इस प्रकार से आजीविका करने वाला 'कुशील' है ।।१६।। [गु.त.वि.ति.उ.३ गाथा८९]

पासत्थाईएसु संविग्गेसु च, जत्थ मिलिई उ ।
तहि तारिसओ होइ, पियधम्मो अहव इयरो य।।१७।।

पार्श्वस्थादि में और संविग्नों में जिनके साथ मिले तब उनके जैसा हो जाता है, वह संसक्त है, संसक्त के प्रियधर्मी और अप्रियधर्मि ऐसे दो भेद है ।।१७।।

संसक्त

सो संसत्तो दुविहो, देसे सव्वे य इत्थ नायव्वो ।
अहच्छंदो वि पंचम, अणेगविहो होइ नायव्वो ।।१८।।

संसक्त भी देश और सर्व भेद से दो प्रकार के हैं, संसक्त के संक्लिष्ट और असंक्लिष्ट ऐसे दो भेदों का वर्णन अन्य ग्रन्थों में विशेष आता है । और पांचवां यथाच्छन्द (स्वच्छन्द) भी अनेक प्रकार के जानने चाहिए ।।१८।। [गु.त.वि.नि.उ. ३ गाथा ९७-९८]

उस्सुत्तमणुवइट्ठं, सच्छंदविगप्पियं अणणुवाइ ।
परतत्ति पवत्ते तिंतिणे य इणमो अहाछंदो ।।१९।।

उत्सूत्रभाषी, जिस विषय का उपदेश जिनप्रवचन में नहीं हुआ, उस विषय का उपदेश करने वाला, स्वच्छन्द होकर अपनी कल्पनानुसार प्रचार करने वाला, दूसरों को प्रसन्न करने के लिए प्रवृत्ति करने वाला यथाछन्द-स्वच्छन्दी जानना चाहिए ।।१९।। [गु.त.वि.ति.उ. ३ गाथा १००]

पासत्थाइवंदमाणस्स, नेव कित्ती न निज्जरा होइ ।
जायइ कायकिलेसो, बंधो कम्मस्स आणाए ।।२०।।

उपरोक्त-पार्श्वस्थादि पांचों प्रकार के साधुओं को वन्दना करने वालों की, न तो कीर्ति होती हैं और न उन्हें निर्जरा का फल मिलता है, परन्तु उल्टा कायक्लेश होता है और साथ ही जिनाज्ञा की विराधना करने से कर्म का बंध होता है ।।२०।। [गु.त.वि.ति.उ. ३ गाथा १०१]

(आचार्यश्री कहते हैं ऐसे पार्श्वस्थ, अवसन्न, कुशील संसक्त और यथाछन्द-स्वच्छन्दों को वन्दना नमस्कार करने से न तो धर्म होता है, न कीर्ति ही होती है, होता है कायकष्ट और भगवदाज्ञा का लोप। जिससे असंयम की अनुमोदना होकर कर्मों का बन्धन होता है। उत्तराध्ययन के १७ वें अध्ययन में कहा है कि-

एयारिसे पंच-कुसील-संवुडे,
रूवंधरे मुणिपवराणहेट्ठिमे ।
अयंसि लोए विसमेव गरहिए,
न से इहं नेव परत्थ लोए ।।२०।।

अर्थात् ये पांच प्रकार के कुशीलिए, संवर-साधुता से रहित वेशधारी होते हैं। ये वास्तविक साधुओं के बराबर नहीं, किन्तु अधम हैं। वे इस लोक में विष की तरह निन्दनीय हैं। उनका न तो यह लोक ही सुधरता है न परलोक ही सुधरता है। *कुशीलियों को वंदन करने में सब से बड़ी हानि यह है कि इससे असाधुता को प्रोत्साहन मिलता है, संस्कृति में गिराव आता है और उत्तम मार्ग, क्षीण होता जाता है।* अत एव इससे बचना चाहिए।)

लोहशिला के समान डुबाने वाले

जह लोहसिला अप्पं पि बोलए तह विलग्गपुरिसंपि ।
इय सारंभो य गुरू, परमप्पाणं च बोलेइ ॥२१॥

जिस प्रकार लोहशिला, खुद डूबती है और उससे संलग्न पुरुष को भी डुबा देती है, उसी प्रकार आरंभ समारंभ वाले गुरु, स्वयं भी डूबते हैं और दूसरों को भी डुबाते हैं ॥२१॥

काष्ट की नौका का सहारा लेने वाला तिरता है, तो लोहे या पत्थर की शिला उठाकर सागर से पार होने की आकांक्षा रखने वाला डूबकर जीवन नष्ट कर देता है। इसी प्रकार असंयमी गुरु, खुद डूबते हैं और भक्तों को भी डुबा देते हैं। सर्व संवृत्त कहाकर भी कुशीलिए आश्रव का सेवन करते हैं। आरंभ समारंभ करते हैं। कोई स्वयं मंदिर, उपाश्रय, स्थानकादि धर्म स्थान बनवाने के लिए, तो कोई विद्यालय, औषधालय, समाधि, छत्री आदि बनाने के लिए, कई प्रकार से स्वयं आरम्भ समारंभ करते हैं। ये संयम से ही नहीं, सम्यक्त्व से भी पृथक् हो चुके हैं। पास में खड़े रहकर भी कार्य करवातें हैं।

विष्ठा गत मालावत्

असुइठाणपडिया, चम्पकमाला न कीरइ सीसे ।
पासत्थाइट्ठाणेसु वट्टमाणा तह अपुज्जा ॥२२॥

जिस प्रकार अशुचि के स्थान में पड़ी हुई चम्पकमाला मस्तक पर धारण करने योग्य नहीं रहती, उसी प्रकार पार्श्वस्थादि के साथ रहते हुए गुरु भी अपूज्य-अवन्दनीय हो जाते हैं ॥२२॥
[गु.त.वि.नि.उ. ३ गाथा १२६]

एक राजकुमार को चम्पे के सुगन्धित फूलों की माला पहनने का बड़ा शोक था। वह घोड़े पर सवार होकर वन विहार को निकला। वह नगर में होकर जा ही रहा था कि घोड़े के नाचने कूदने से राजकुमार के सिर पर से चम्पकमाला छटक कर नीचे गिर गई। राजकुमार माला लेने के लिए घोड़े पर से नीचे उतरा। जब उसने देखा कि माला तो विष्ठा पर पड़ी है, तो वह निराश हुआ और बिना माला लिए ही घोड़े पर सवार होकर चल दिया।

इस उदाहरण से आचार्यश्री कहते हैं कि पार्श्वस्थादि असंयमी साधु, विष्ठा के समान हैं और शुद्धाचारी निर्ग्रन्थ, चम्पकमाला के समान हैं, जिन्हें प्रियधर्मी, दृढ़धर्मी उपासकगण 'मत्थएण वंदामि' करके मस्तक पर धारण करते हैं, किन्तु उनमें से कोई, किसी भी कारण से, अपना शुद्धाचार नहीं छोड़ते हुए भी पासत्था के साथ हो जाय और उनमें रहने लगे, तो वह भी विष्टा पर पड़ी हुई चम्पकमाला के समान उपेक्षणीय है। फिर वह वन्दनीय, पूजनीय नहीं रहता। यद्यपि चम्पकमाला अपने आप में विष्ठा नहीं है, किन्तु विष्ठा की संगति ने ही उसकी वंदनीयता समाप्त कर दी, उसकी प्रतिष्ठा नष्ट कर दी।

हलवा (मोहन भोग) तब तक ही सर्वप्रिय रहता है, जब तक वह जठर में पहुँचकर मल के रूप में बाहर नहीं निकल जाय। उसी प्रकार गुरु भी तब तक ही वंदनीय रहते हैं, जब तक कि वे असंयम द्वारा ग्रसे जाकर पार्श्वस्थादि रूप नहीं बन जाय। पार्श्वस्थादि रूप धारण करने पर तो वे स्वयं विष्टा जैसे घृणित (विसमेवगरहिए) हो जाते हैं और उनके संभोगी सहयोगी एवं साथी संयमी भी विष्ठा में पड़े हुए अमृतफल की तरह उपेक्षणीय

होते हैं। पाठकों को वह सर्वश्रुत कथा तो याद ही होगी-जिसमें एक श्रेष्ठी पुत्र ने विष्ठा के स्थान पर पड़ा हुआ मीठा बेर उठाकर चुपचाप खा लिया था । इसकी फजिहत अब तक व्याख्यानों में सुनने में आती है।

यदि इस उदाहरण और उपदेश का मर्म उपासक वर्ग समझ जाय, तो शिथिलाचार नाम शेष होते देर नहीं लगे । पार्श्वस्थादि वेशधारी असंयतियों की अवंदनीयता को विशेष रूप से पुनः स्पष्ट करने के लिए आचार्यश्री दूसरा उदाहरण उपस्थित करते हैं।

चाण्डाल और उसके साथी के समान

पक्कण कुले वसंतो सओणीपारो वि गरहिओ होइ ।
इह गरहिया सुविहिया, मज्झि वसंता कुसीलाणं ॥२३॥

पक्कण-निन्दित-गर्हित=चाण्डाल कुल में रहने वाला, सओणीपार=चौदह विद्या में पारंगत, शिष्य भी निन्दनीय होता है, उसी प्रकार कुशीलियों में रहने वाले सुसाधु भी निन्द्य हैं ॥२३॥

'शकुनिपारक' का अर्थ किया है-६अंग, ४वेद, मीमांसा, न्याय, पुराण और धर्मशास्त्र, इन चौदह विद्या स्थानों में पारंगत बना हुआ। इसका दृष्टान्त इस प्रकार है ।

एक निष्ठावान् ब्राह्मण के ५ पुत्र थे। वे सभी शकुनिपरक थे। एक पुत्र का किसी दासी के साथ अनुचित सम्बन्ध हो गया। वह दासी मदिरा पीती थी और मांस भक्षण भी करती थी। उस

दासी ने अपने प्रेमी को भी मदिरा पान कराना चाहा। उसके स्वीकार नहीं करने पर उसने गुप्त रूप से मदिरा पिलाई। होते होते वह नशाबाज हो गया और मांसभक्षी भी। उसका यह कुकृत्य प्रकट हो गया और पिता ने उसे घर से निकाल दिया। वह गांव के बाहर एक झोंपड़ी में रहने लगा और चाण्डालों के साथ फिरने लगा । भाइयों में परस्पर स्नेह अधिक था । दूसरा भाई चुपके से उससे मिलने आता और कुछ न कुछ दे जाता। जब पिता ने यह हकीकत जानी, तो उसे भी घर से निकाल दिया। तीसरा भाई भी अपने भाई को मिलने जाता । वह साथ बैठता तो नहीं, किन्तु झोंपड़े से दूर खड़ा रह कर कुशल समाचार पूछ लेता और कुछ दे आता । पिता ने उसे भी घर से निकाल दिया । चौथा भाई स्वयं नहीं जाता, किन्तु दूसरों के द्वारा संदेश भेजता, मंगवाता और आर्थिक सहायता भी करता । पिता ने उसे भी पतित से सम्बन्ध रखने के कारण पृथक् कर दिया। पाँचवाँ पुत्र, पिता का पूरा आज्ञाकारी था । उसने वैसा कुछ भी नहीं किया । पिता ने उसे अपनी सारी सम्पत्ति का स्वामी बना दिया ।

इस दृष्टान्त में चाण्डालों के समान पार्श्वस्थादि हैं। पिता के समान आचार्य हैं और शकुनिपारक शिष्यों के समान साधु हैं । चाण्डालिनी-दासी तथा चाण्डालों के संसर्ग से पतित बने हुए प्रथम भाई के समान स्वयं पार्श्वस्थ हैं । दूसरे तीन भाइयों के समान पार्श्वस्थ से न्यूनाधिक सम्बन्ध रखने वाले हैं । विशेष सम्बन्ध रखने वाला भी त्याज्य हैं और कम तथा दूर का सम्बन्ध रखने वाला भी त्याज्य है । क्योंकि ये भी पवित्र मर्यादा

को क्षति पहुँचाने वाले हैं । इनके मन में भाई का स्नेह तो है, परन्तु धर्म की उत्तम मर्यादा के प्रति उपेक्षा है । अत एव धर्मप्रिय ब्रह्मदेव के लिए वे तीनों पुत्र भी त्याज्य रहे । उनकी कुल एवं धर्म परम्परा का निर्वाहक तो शेष एक पुत्र ही रहा । वह उनकी समस्त सम्पत्ति का पूर्ण रूप से उत्तराधिकारी रहा ।

निर्ग्रन्थ परम्परा भी ऐसी ही है । स्वयं भगवान् महावीर ने वैचारिक मलिनता के कारण अपने जमाली नाम के शिष्य को निह्नव घोषित कर दिया और सैकड़ों साधुओं के साथ वह पृथक् हो गया । सिद्धांत का भोग देकर सम्बन्ध बनाये रखना, निरी कायरता है, या आस्था में न्यूनता है । आज तो बहिष्कृतों और प्रत्यनिकों के साथ प्रत्यक्ष ही सम्बन्ध रखकर जाहिर रूप से परम्परा एवं आगमिक विधानों को कुचला जा रहा है । आचार्यश्री के उपरोक्त उदाहरण से उनकी स्थिति स्पष्ट हो रही है । [गु.त.वि.नि.गाथा १२७]

[दशवैकालिक टीका में पुष्पमाला एवं चंडाल के कूप का दृष्टांत देकर ऐसे कुगुरुओं के उपदेश सुनने का भी निषेध किया है।]

वह दुर्लभबोधि है

परिवारपूयहेऊ, पासत्थाणं च आणुवित्तीए ।
जो न कहइ सुद्धधम्मं, तं *दुल्लहबोहियं* जाण ।।२४।।

अपना परिवार-समूह, पूजनीय-प्रतिष्ठित होने के कारण और पार्श्वस्थों की अनुवर्त्तना (अनुकूलता का विचार होने) से जो साधु शुद्ध मार्ग का उपदेश नहीं करता, उसे दुर्लभबोधि जानना चाहिए ।।२४।।

आगमोक्त परम्परा के विरुद्ध प्रचार हो रहा हो और मर्यादा का भंग हो रहा हो, ऐसी स्थिति को चलाते रहना, उसके विरुद्ध सत्य को दबाकर बुराइयाँ बढ़ने देना, तो अधर्म का मार्ग प्रशस्त करना है । ऐसा वे ही कर सकते हैं-जिनके हृदय में धर्मप्रियता न हो, पद, प्रतिष्ठा अथवा पक्ष का मोह हो या फिर कायरता हो । जानते हुए भी बुराइयों की उपेक्षा करना तो दुर्लभबोधिपन को अपनाना है और यह उनके लिए तो विशेष रूप से हानिकारक है कि जो उस बुराई से किसी भी रूप में सम्बन्धित हो ।

कुशीलियों का पक्ष भी हेय

जइ अप्पणा विसुद्धो कुसीलसंगं पक्खवायं वा ।
न चयइ पूयाहेऊं, तं दुल्लहबोहियं जाण ॥२५॥

यदि कोई अपने आप में विशुद्ध हो, किन्तु अपनी मान प्रतिष्ठा के लिए उसने कुशीलियों की संगति अथवा पक्षपात किया है और उसे छोड़ता नहीं है, तो उसे दुर्लभबोधि जानना चाहिए ॥२५॥ [दर्शनशुद्धि-प्रकरण गाथा ९६]

कुशीलियों की संगति और पक्षपात नहीं छोड़ने का कारण पद, प्रतिष्ठा और मान-सन्मान मुख्य है । इसके मूल में धर्म के प्रति अनुराग की कमी है । यदि धर्म के प्रति दृढ़ अनुराग हो, तो पक्ष या प्रतिष्ठा का मोह सबल नहीं हो सकता।

जब पक्ष या पूजा मोह बढ़ता है, तब धर्म प्रेम दब जाता है और इसके दबने पर कुशीलियों का संग और पक्षपात होता ही है ।

यह पक्षपात ही दुर्लभबोधि बनाता है । जो प्रियधर्मी होता

है, वह दुर्लभबोधि नहीं होता । श्री गर्गाचार्य में न तो पक्षपात था, न पद-लोलुपता थी । उनकी आत्मा में धर्म का प्रेम पूर्णरूप से विद्यमान था । इसीसे वे पद, प्रतिष्ठा और विशाल शिष्य समूह का त्यागकर एकाकी विचरने लगे । उनका पूरा शिष्य समूह कुशीलिया बन चुका था ।

(वीरशासन में आचार्य श्री हरिभद्रसूरिजी का समय अनाचार प्रधान था । श्रमणवर्ग में अनाचार व्यापक रूप ले चुका था। आचार्यश्री का हृदय इस स्थिति से दुःखी था। उन्होंने उपासक वर्ग को बोध देने के लिए 'संबोध प्रकरण' ग्रन्थ में 'कुगुरु गुर्वाभास' नामक अधिकार रचकर कुशीलिया साधु का स्वरूप विस्तार के साथ बताया । प्रत्येक पाठक को इसका मनन पूर्वक पठन करना चाहिए और वर्तमान दशा से तुलना करके हेयोपादेय का विचार करना चाहिए तथा वीरशासन के प्रति अपना कर्त्तव्य निर्धारित करना चाहिए । प्रत्येक पाठक को इस प्रकरण के दर्पण में अपने आपको अच्छी तरह देखना चाहिए कि कहीं मैं प्रवाह में बहकर अनाचार को प्रोत्साहन देता हुआ भगवान् महावीर के धर्मशासन की विराधना में सहायक तो नहीं हो रहा हूँ । उपासक भी धर्म के उत्थान और पतन में सहायक होता है । उसका मत, उसका समर्थन और उसका थोड़ा भी सहयोग, मूल्यवान् होता है । यह प्रकरण अपना कर्त्तव्य स्थिर करने में पाठकों का मार्गदर्शक एवं सहायक होगा-सम्पादक)

श्रावकों को नहीं बताना?

केइ भणंति उ भण्णइ,
सुहुमवियारो न सावगाण पुरो ।
तं न जओ अंगाइसु,
सुच्चइ तव्वन्नणा एव ॥२६॥
लद्धट्ठा गहियट्ठा,
पुच्छियट्ठा विणिच्छियट्ठा य ।
अहिगयजीवाजीवा,
अचालणिज्जा पवयणाओ ॥२७॥

कुछ साधु कहते हैं कि श्रावकों के सामने साधुधर्म का सूक्ष्म विचार नहीं बताना चाहिए । उनका ऐसा कहना असत्य है । क्योंकि अंगादि शास्त्रों में श्रावकों का वर्णन इस प्रकार आया है कि-श्रावक लब्ध अर्थ वाले, गृहित अर्थ वाले, पृच्छित अर्थ वाले, विनिश्चित अर्थ वाले, जीव अजीव के ज्ञाता एवं निर्ग्रन्थ प्रवचन सिद्धान्त में अचल दृढ़ होते हैं ।।२६-२७।।

जो कुशीलिए होते हैं, वे अपनी कमजोरी को छुपाना चाहते हैं । उन्हें यह भय बना रहता है । कि कहीं हमारी कमजोरियाँ उपासक वर्ग नहीं जान ले । जानता वही है, जिसे उनके आचार विचार की वास्तविक जानकारी हो । अनजान या अल्पज्ञ उनकी पोल को नहीं समझ सकते । इसलिए वे चाहते हैं कि श्रावकों के सामने साधुओं की समाचारी के विधि विधान नहीं बताने चाहिए ।

भोले-भाले अनभिज्ञ भक्तों में ही कुशीलियों की दाल गलती है या फिर स्वार्थी एवं पक्षपातियों में । ऐसे बोंगे लोगों

एवं स्वार्थियों को बहकाकर वे कुशीलिए झगड़ा खड़ा करवा देते हैं और समाज का वातावरण बिगाड़ कर अपना उल्लु सीधा करते रहते हैं । वे जानने समझने वालों और शुद्धाचारी मुनियों के विरुद्ध अपने पक्षपातियों को बहकाकर उन्हें अपमानित करने का प्रपंच करते रहते हैं। कुशीलियों की पौबारह अनभिज्ञों और पक्षपातियों में ही होती है । सुज्ञ विचारकों में उनकी पोल नहीं चलती । अत एव आचार्यश्री कहते हैं कि श्रावकों को लब्धार्थ आदि वाला अवश्य होना चाहिए ।

यहाँ यह स्पष्ट करना भी आवश्यक होगा कि आगमज्ञान भी योग्यतानुसार दिया जाना चाहिए और वह भी अनुभवियों की सहायता से । अन्यथा अर्थ का अनर्थ हो जाता है । लाभ के बदले हानि हो जाती है । अपेक्षा नहीं समझ सकने या बुद्धि की कमजोरी से अन्यथा समझ कर कई लोगों ने अनर्थ कर डाला है । अत एव साधु हो या श्रावक, योग्यतानुसार सूत्र की योग्यतावाले साधु को सूत्र और अर्थ की योग्यतावाले श्रावक को अर्थ का ज्ञान प्राप्त करना उचित एवं लाभकारी है ।।२६-२७।। [दर्शन शु. प्र. गाथा ८९-९०]

उन्मार्ग देशक

पुच्छंताणं धम्मं तंपि अ न परिक्खिओ समत्थाणं ।
आहारमित्तलुद्धा जे *उम्मग्गं* उवइसंति ।।२८।।

धर्म का सम्यग् अर्थ पूछने वाले श्रावकों को वे जिह्वालोलुप पासत्थे, उन्मार्ग का उपदेश करते हैं ।[1] वास्तव में वे साधु, स्वयं भी धर्म को नहीं जानते ।।२८।। [दर्शन शुद्धिप्र० गा. ९३]

सन्मार्ग का उपदेश, उनकी पोल खोल देता है। इसलिए वे

1. 'चाले सूत्र विरुद्धाचारे, भाषे सूत्र विरुद्ध' उपा. यशोविजयजी कृत ३५० गाथा स्तवन ।

उन्मार्ग का उपदेश करते हैं । लोकरंजन, उनका लक्ष्य रहता है । वे इसी विचार में रहते हैं कि उनका आदर सम्मान भी बना रहे और दुराचार भी चलता रहे ।

दुर्गति में धकेलने वाले

सुगइं हणंति तेसिं, धम्मियजणनिंदणं करेमाणा ।
आहारपसंसासु य, निंति जणं दुग्गइं बहुयं ।।२९।।

आहार की प्रशंसा करते और धर्मीजनों की निन्दा करने वाले वे वेशधारी, अपने उपासकों की सुगति का नाश करते और दुर्गति में ले जाते हैं ।।२९।। [दर्शन शुद्धि प्र. गा.९४]

सरस एवं स्वादिष्ट आहार और उसके दाता की प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि-जिनका हृदय उदार हो, जो धर्म के प्रेमी हो, जो अपने गुरु और साधु संतों को प्रिय पाहुणे की तरह अच्छी से अच्छी वस्तु, उलट भाव से देकर प्रचुर पुण्य उपार्जन करते हैं । ऐसे दानवीर ही धर्म का पोषण और प्रसार कर सकते हैं ।[1] वे कंजूस, मक्खीचूस, मूंजी लोग, क्या धर्म करेंगे ? उनके यहाँ मिलता ही क्या है ? कहीं साधुओं को बहस दे तो बच्चे ही भूखे मर जायँ । खुद रूखे सूखे खाने वाले, साधुओं को क्या देंगे ? ऐसे संकुचित मन वाले की भी कहीं सद्गति हो सकती हैं ?

यों अनेक प्रकार से धर्मीजनों की निन्दा करते और अनजान उपासकों को गरिष्ठ एवं सरस आहार देने के लाभ बताकर उनसे आधाकर्मादि आहारादि प्राप्त कर उनकी सद्गति का नाश करते हुए दुर्गति की ओर धकेलते हैं ।

1. ऐसा उपदेश स्वार्थ के लिए नहीं देना चाहिए ।

वेशविडम्बक

उदगपाणं पुप्फफलं, अणेसणिज्जं गिहत्थकिच्चाइं ।
अजया पडिसेवंति, जइवेसविडंबगा नवरं ॥३०॥

वे असंयमी, सचित्तजल, पुष्प, फल, अनेषणीय आहार और गृहस्थ के कार्यों का सेवन करते हैं। इतना होते हुए भी ये विरति से वंचित कुशीलिए, साधु-वेश की विडम्बणा करते हैं ॥३०॥ उपदेश-माला ३४९ गाथा

जिनकी रसना वश में नहीं है, जो चटोरे और स्वाद लोलुप हैं, वे काम तो असंयमी गृहस्थ जैसे करते हैं, किन्तु वेश संयमी एवं आदरणीय साधु का रखते हैं । उनका आदर सत्कार केवल वेश के कारण ही होता है । मुग्ध लोग तो वेश देखकर ही उन्हें अपने गुरु मान कर विश्वास करते हैं । वेश के नीचे उनके सभी पाप दबे रहते हैं। ऐसे वेश विडम्बक बड़े प्रपंची होते हैं ।

गृहस्थवत्

जे घरसरणपसत्ता, छक्कायरिऊ असंजया अजया ।
नवरं मुत्तूण घरं घरसंकमणं कयं तेहिं ॥३१॥

जो घर में रहने के लिए ही आसक्त हैं, छह काय जीवों के शत्रु हैं, ऐसे असंयमी साधु, अविरत ही हैं । इसमें अन्तर यही है कि उन्होंने एक घर का त्याग करके दूसरे अनेक घर कर लिये है ॥३१॥ [उपदेश माला गा. २२०]

जिनकी संसार में रुचि है, आहारादि में लुब्ध हैं, छह काय जीवों का आरम्भ करवाते हैं । वे छह काय जीवों के शत्रु हैं । वे वेश से साधु होते हुए भी वस्तुतः असाधु एवं अविरत ही हैं । विरति का ढोंग

उनका, स्वार्थ पूर्ति के लिए है । वे गृहत्यागी कहलाते हैं, किन्तु वे अणगार नहीं हैं। उन्होंने मात्र घर का परिवर्तन ही किया है-एक घर छोड़कर दूसरा घर बसा लिया हैं । खरे अणगार तो वे हैं, जो आरम्भ परिग्रह एवं संसार से सर्वथा पृथक्-विमुख होकर साधना करते हैं । खान पानादि में आसक्त एवं आरम्भ के कार्यों में रुचि रखने वाले तो गृहस्थ जैसे हैं ।

बायालमेसणाओ न रक्खइ धाइ सिज्जपिंडं च ।
आहारेइ अभिक्खं विगईओ सन्निहिं खायइ ॥३२॥

जो एषणा के ४२ दोषों से संयम की रक्षा नहीं करते तथा धात्रिपिंड, शय्यातरपिंड और विगयों का बारबार भक्षण करते रहते हैं तथा सन्निधि आहार करते हैं ।।३२।। [उपदेश माला गा. ३५४]

जिनका खान पान साधु के योग्य नहीं है, जो रसलोलुप होकर एषणासमिति का पालन नहीं करके सभी दोषों का सेवन करते रहते हैं और रुचिकर आहार विशेष लाकर, बाद में खाने के लिए संग्रह रखते हैं, वे साधुता से वंचित असाधु हैं ।[1]

सूरप्पमाणभोई आहारेई अभिक्खमाहारं ।
न य मंडलिए भुंजइ न य भिक्खं हिंडए अलसो ॥३३॥

सूर्योदय से लगाकर सुर्यास्त तक खाता रहने वाला, बिना भिक्षा के ही आहार मँगवा कर खाने वाला, *मंडली में बैठकर भोजन नहीं करके अकेला ही खाने वाला,* आलसी, भिक्षाचरी

1. आजकल तो टीफन का आहार लेना भी कुछ साधुओं में सामान्य बात हो गई है, इससे भी बढ़कर गृहस्थ के घर जाकर भोजन करना, होटलों में ठहरना चालू हो गया है। विहार में गाडियों में रसोई का सामान एवं ओर्डर देकर भोजन बनवाना भी अधिक मात्रा में हो रहा है। बावजूद इसके अपने को जैन साधु कहे एवं समाज उन्हें जैन साधु माने, यह कैसी विडम्बना?

के लिए गृहस्थों के यहाँ नहीं जाने वाला ।।३३।। [उपदेश माला गाथा ३५५]

कीवो न कुणइ लोयं, लज्जइ पडिमाइ जल्लमवणेइ ।
सोवाहणो य हिंडई, बंधइ कडिपट्टयमकज्जे ।।३४।।

क्लीब (नपुंसक, असमर्थ, कायर) लोच नहीं करता, प्रतिमा-अभिग्रह धारण करने में लजाता है, शरीर का मैल उतारता है, जूते पहिनता है और अकारण ही कटि पर वस्त्र बांधता है।।३४।। [उपदेश माला गाथा ३५६]

लोच नहीं करना, कायरता का परिणाम है, कष्ट सहन करने की रुचि नहीं है, सुखशीलियापन है । प्रतिमा धारण नहीं करना, आत्मार्थीपन की भावना वृद्धिगत नहीं होने का सूचक है और मैल उतारना सुखशीलियापन तथा शरीर शोभा बढ़ाने की वृत्ति बतलाता है । जब शरीर का मैल उतारना भी चारित्र हीनता है, तो सोड़ा, साबुन, टीनोपाल आदि से वस्त्रों को अति उज्ज्वल एवं सुशोभित रखना चारित्राचार की निशानी कैसे हो सकती है ? पांवपोश पहनना कपड़े के मौजे पहनते-पहनते बाटा के बूट भी आ गये, यह भी सुखशीलियापन का विशेष प्रमाण है ।

सोवइ य सव्वराई, नीसट्ठमचेयणो न वा झरइ ।
न पमज्जंतो पविसइ निसीहि, आवस्सियं न करे ।।३५।।

रात भर आराम से निश्चेष्ट जड़ की तरह सोता रहे, स्वाध्याय भी नहीं करे, उपाश्रय में प्रवेश करते प्रमार्जना भी नहीं करे और न आवश्यकी नैषेधिकी ही करे ।।३५।। [उपदेश माला गाथा ३५९]

रात भर नींद लेना शास्त्र में निषिद्ध है, तब अकारण-
स्वस्थ दशा में दिन को नींद लेना तो निषिद्ध है ही।

सव्वं थोवं उवहिं न पेहए न य करइ सज्झायं ।
निच्चमवझाणरओ, न य पेहमज्जणासीलो ।।३६।।

सभी उपकरण अथवा थोड़े उपकरण की भी मुहपत्ति की भी प्रतिलेखना नहीं करे । स्वाध्याय भी नहीं करे, सदैव दुर्ध्यान में रत रहे और प्रतिलेखना प्रमार्जना की क्रिया से वंचित रहे ।।३६।।

संगति के भी अयोग्य

एयारिसा कुसीला हिट्ठा पंचावि मुणिवराणं च ।
न य संगो कायव्वो तेसिं धम्मट्ठिभव्वेहिं ।।३७।।
आयरिय-उवज्झाया, पवत्ति थेरा वि साहुणो अहवा ।
जत्थ अणायारपरा, सो गच्छो इत्थ मुत्तव्वो ।।३८।।

इस प्रकार के कुशीलिए, नीचे कहे जाने वाले पांच प्रकार के मुनियों में से कोई भी हो, वे हीन कोटि के हैं । इसलिए धर्म प्रेमी भव्य जनों को इनकी संगति नहीं करनी चाहिए ।।३७।।

१. आचार्य २. उपाध्याय ३. प्रवर्तक ४. स्थविर और ५. साधु, ये पांच जिस गच्छ में अनाचार वाले हों, वह गच्छ त्याग देने योग्य है ।।३८।।

चाहे आचार्य हो या उपाध्याय, अथवा सामान्य साधु ही हो, जो उपरोक्त प्रकार से कुशीलिया हो अर्थात् श्रमण समाचारी का यथायोग्य पालन नहीं करता हो, वह निर्ग्रन्थ धर्म के प्रेमियों के लिए संगति करने के योग्य नहीं है । अर्थात् जो साधु कहला कर, आचार्यादि पद पाकर भी आरम्भ, परिग्रह, सुखशीलियापन,

आहारादि ग्रहण में स्पष्ट आधाकर्मादि दोष, दूषित वस्तु ग्रहण आदि ऊपर बताये कुशीलियापन से युक्त हों, वे धर्मेच्छुक धर्मप्रेमी एवं निर्ग्रन्थ धर्म के हितैषी के लिए त्याग करने योग्य है, फिर भले ही वह एक व्यक्ति हो या पूरा गच्छ। वह संगति करने के योग्य नहीं है । क्योंकि

"कुसाधु को सुसाधु की तरह सम्मान देने से मिथ्यात्व भी लगता है और असंयमियों का अनुमोदन होता है"

तथा श्री जिनधर्म की अवहेलना का पाप होता है ।

चुनाव में दो व्यक्ति खड़े हैं, एक सदाचारी ईमानदार और दूसरा भ्रष्टाचारी बेईमान। यदि कोई भी व्यक्ति, जानबूझकर भ्रष्टाचारी को वोट देता है, तो वह भ्रष्टाचार एवं बेईमानी का समर्थक एवं सदाचार और ईमानदार का विरोधी है । वह पाप को बढ़ाने वाला और धर्म को नष्ट करने वाला है ।

कोर्ट में न्यायाधिकारी के सामने एक मुकदमा उपस्थित है- चोरी और साहुकारी का । साक्षी यदि चोर के पक्ष में साक्षी देगा, तो वह चोर एवं चोरी का पोषक और साहुकार एवं साहुकारी का घातक होगा । जो जानता समझता हुआ भी चोर का पक्ष लेगा, वह तो विशेष रूप से पापपोषक एवं धर्म-घातक होगा ।

वह भी धर्म-घातक एवं पाप-पोषक की कोटि में ही आयगा-जो समझता हुआ भी दूर एवं तटस्थ रहकर पाप को सफल एवं धर्म को विफल होते देख रहा है और अपनी साक्षी देकर सत्य पक्ष को बलवान् नहीं बनाता और पाप पक्ष को निर्बल करने में योग नहीं देता । उसकी जानकारी धर्म पक्ष में

उपयोगी नहीं हुई । उसकी उपेक्षा ने पापपक्ष को सफल होने दिया ।

जब विधान सभा या लोकसभा में किसी विषय पर मतगणना हो रही हो, तब मतगणना के समय पार्टी के सदस्यों को अवश्य ही उपस्थित रहना होता है और मतदान के समय मत देना होता है । यदि कोई सदस्य मत नहीं देकर तटस्थ रहे, तो वह पार्टी को क्षति पहुँचाने वाला माना जाता है और उस पर अनुशासन की कारवाई होती है ।

उपरोक्त उदाहरणों से सिद्ध है कि कुशीलियों को आदर सन्मान देने वाला, उनका पक्ष करने वाला और तटस्थ रहकर अक्रिय रहने वाला असदाचार का समर्थक, पोषक एवं चाहक है और धर्म शासनाधीश भगवान् महावीर के उत्तम-उत्तमोत्तम धर्म-उत्तम आचार का विरोधी, शोषक एवं नहीं चाहने वाला है । जो जिसे चाहता है, वह उसमें यथाशक्ति योग देता है । जो किंचित् भी-वचन और अपने मन से भी योग नहीं देता वह उस धर्म का चाहक कैसे माना जा सकता है ?

जब-जब भी निर्ग्रन्थ धर्म कमजोर स्थिति में पहुँचा और कुशीलियों का बल बढ़ा, ऊन कुशीलियों को उपासकों का बल प्राप्त हुआ, तभी वह जोर पर आया । यदि उपासकवर्ग कुशीलियों का सहायक नहीं होता, तो श्रमणवर्ग की स्थिति नहीं बिगड़ती और साधुओं द्वारा आरम्भ, परिग्रह तथा कदाचार का विस्तार होकर धर्म-साधुता, अधर्म-असाधुता के नीचे नहीं दबती । उपासकों का समर्थन, शक्ति एवं सहयोग पाकर ही कुशीलियापन फला फूला और जैन धर्म की दुर्दशा हुई और हो रही है ।

दुष्ट गच्छ

जत्थ य गुणिप्पओसं, वहंति उम्मग्गदेसणारत्ता ।
सो य *अगच्छो* गच्छो, संजयकामीहिं मुत्तव्वो ।।३९।।

जिस गच्छ में, उन्मार्ग की देशना रुचि पूर्वक होती हो, जिसमें गुणीजनों के प्रति द्वेष फैलाया जाता हो, वह गच्छ, दुष्ट गच्छ है, कुगच्छ है और संयमी आत्माओं के लिए त्यागने योग्य है ।।३९।।

उन्मार्ग देशना तो वह पाप है, जो व्यक्ति को कृतघ्न, आश्रय-स्थल को नष्ट करने वाला, दर्शन एवं चारित्र विघातक बनाने वाला है । उन्मार्ग देशना करने वाले, उस दुराचारिणी स्त्री जैसे हैं, जो पत्नी तो अपने पति की कहलाती है, किन्तु प्रीति पराये से करती है और पराये के जाहिर में गुणगान करती है । जैसे दर्शन-भेदिनी एवं चारित्र-भेदिनी देशना देने वाला एक भी व्यक्ति किसी गच्छ में हो और उस गच्छ के नेता उसके कुप्रचार के प्रति अनुशासन की कारवाई नहीं करते हों, तो वह गच्छ भी सुगच्छ नहीं है ।

इसी प्रकार जिस गच्छ में गुणीजनों-संयमनिष्ठ साधु साध्वियों एवं श्रावक श्राविकाओं की निन्दा की जाकर द्वेष फैलाया जाता हो और ऐसे उद्दण्ड व्यक्तियों पर किसी भी प्रकार का अंकुश नहीं हो, तो वह गच्छ, समूह, संघ अथवा समूदाय सब नाम मात्र का ही है । वास्तव में वह सुगच्छ नहीं, कुगच्छ है-दुष्ट गच्छ है। वह जिनाज्ञा का आराधक नहीं, विराधक होता है । संयमप्रिय जिनाज्ञापालक, भाव संयत के लिए ऐसा गच्छ त्यागने लायक है ।

चोरों का समूह

वयछक्कं कायछक्कमकप्पो गिहिभायणं ।
पलियंक निसिज्जा य सिणाणं सोभवज्जणं ।।४०।।
ए अट्ठारसदोसा, जत्थ निसेवंति साहुवेसधरा ।
धम्मधणहरणपरमं, तं पल्लिं जाणं न हु गच्छं ।।४१।।

प्राणातिपात विरमण से लगाकर परिग्रह विरमण रूप पांच महाव्रत और रात्रि-भोजन त्याग, ये छह व्रत और छह काय के जीव, इन बारह की विराधना, १३ अकल्पनीय वस्तुओं का सेवन, १४ गृहस्थ के बरतनों को काम में लेना, १५ पलंग, कुरसी आदि पर सोना बैठना, १६ गृहस्थ के घर बैठना, १७ स्नान करना[1] और १८ शरीर की शोभा बढ़ाना, इन अठारह दोषों में से किसी एक दोष का भी, जिस गच्छ के वेशधारी साधु, सेवन करते हैं, वह निश्चय ही संयमियों का गच्छ नहीं है, किन्तु धर्मरूपी धन को हरण करने वाले चोरों की पल्लि (गांव) है ।।४०-४१।।

आचार्य श्री हरिभद्रसूरिजी ने जिन १८ दोषों का उल्लेख किया, वे दशवैकालिक सूत्र के छठे अध्ययन के आधार पर हैं । उनके समय में इन दोषों का सेवन प्रायः होता था, ऐसा उस समय की स्थिति देखते प्रतीत होता है । आज इसी आधार पर स्थिति का निरीक्षण करें, तो स्थिति विषम लगती है । कई दोषों का तो जाहिर रूप में सेवन हो रहा है और अनेकों का गुप्त । इस प्रकार उक्त बतलाये गये सभी दोषों का सेवन वर्तमान में अधिकांश तथाकथित साधु वर्ग द्वारा किया जा रहा है ।

1. रात को स्नान करने वाले, बाथरूम में डीबा भरकर पानी से स्नान करने वाले भी पूजे जा रहे हैं।

आचार्य श्री ने हार्दिक वेदना के साथ बड़े ही कठोर शब्दों में कहा कि जिस गच्छ में व्रत-भंजक वेशधारी हो, वह धर्मधन को लूटने वाले चोर-चोरों का समूह है। पाठकों को आचार्य श्री के ये शब्द बड़े कठोर लगेंगे, किन्तु वस्तु स्थिति पर विचार करते ये शब्द कटुता पूर्ण नहीं, किन्तु हार्दिक वेदना व्यक्त करते हैं और यथार्थ हैं ।

किसी व्यक्ति का गाढ़ी कमाई का धन, कोई चोर लूट ले, तो वह लूटाया हुआ व्यक्ति, चोर को आशीर्वाद नहीं देगा । उसकी आत्मा में कितना दुःख होता है-यह समझना बिलकुल सरल है । उसी प्रकार निर्ग्रन्थ धर्म के रसिकों-प्रेमियों के सामने जब असाधुता के प्रसंग खुले रूप में उपस्थित हों, बढ़-चढ़कर आरम्भ समारंभमय प्रवृतियाँ होती हों, सावद्य कार्य किये कराये जाते हों, नये-नये आडम्बर खड़े किये जाते हों, भ्रष्टाचारियों और धर्मध्वंशकों से सम्बन्ध रखे जाते हों, इतना ही नहीं, जैनधर्म के लिए हानिकारक प्रचार किया जाता हो, तो ऐसी उल्टी प्रवृत्ति से उन्हें दुःख ही होगा । वे यही कहेंगे कि-साधु वेशधारी साहुकार, धर्म रूपी धन को लूट रहे हैं । अहिंसक वेशधारी, धर्म का प्राण हरण कर रहे हैं, धर्म की हत्या कर रहे हैं ।

दशवैकालिक सूत्र अध्याय ६ गाथा ७ में भी यहाँ तक कहा है कि—

दस अट्ठ य ठाणाइं, जाइं बालोऽवरज्झइ ।
तत्थ अण्णयरे ठाणे, निग्गंथत्ताउ भस्सइ ।।७।।

अर्थात् - इन अठारह स्थानों में से किसी एक भी स्थान की विराधना-दोष सेवन करने वाला अज्ञानी साधु, निर्ग्रन्थत्व-साधुपने से भ्रष्ट हो जाता है ।

हम या कोई भी सुज्ञ धर्मज्ञ, प्रत्यक्ष देख रहा है कि एक ही क्या, बहुत से दोषों का सेवन, कई साधुओं में दिखाई दे रहा है। 'शोभावर्जन' का आखरी नियम भी नहीं पालने वाले और साबुनादि से अति स्वच्छ एवं अति उज्ज्वल एवं सुशोभित रहते हुए तो आँखों से स्पष्ट दिखायी दे रहे हैं। वस्त्रों की उज्ज्वलता में श्रावक संघ को भी पीछे छोड़ दिया है। कम समझ वाला भी देख समझ सकता है। ऐसा करने वाले की दृष्टि संयम की ओर है या संसार की ओर ? यह समझना कठिन नहीं है। यदि उपासकगण, पक्षपात छोड़कर सूत्रकार के प्रति कर्त्तव्य परायण रहे और विराधकों के सहायक, समर्थक एवं वंदक नहीं रहे और उपेक्षा कर दें, तो उनका असहयोग, नियम भंजकों को सन्मार्ग पर ला सकता है। उपासकों को सोचना चाहिए कि वे किसके उपासक हैं ? जिनाज्ञापालक के या लोपक के ? यदि उन्हें जिनेश्वर भगवंतों, उनके बताये हुए विधिविधानों-आगमों एवं शुद्ध साधुत्व के प्रति वफादार (कर्त्तव्यशील) रहना है, तो आज्ञालोपकों का विरोध करना होगा। यदि विरोध नहीं कर सकें, तो उपेक्षा करके अपना सहयोग, समर्थन और पक्षपात छोड़ना होगा। उन्हें दो में से एक चुनना होगा-जिनाज्ञापालक का पक्ष या आज्ञा-विराधकों का पक्ष, दोनों का सम्बन्ध नहीं रह सकता। वह भी विराधना ही है।

दोष सेवियों का गच्छ, उन्नति की ओर (मोक्ष की दिशा में) गच्छने-चलने वाला नहीं, किन्तु अवनति की ओर गच्छन्ति करने वाला होता है।

मंगत

संखडिपमुहे किच्चे, सरसाहारं खु जे पगिण्हंति ।
भत्तट्ठं थुव्वंति *वणीमगा* ते वि न हु मुणिणो ।।४२।।

संखडी (-जहाँ बहुत से मनुष्यों के लिए भोजन बनता हो-जीमणवार) आदि कार्यों में जहाँ रसयुक्त आहार बनता हो, वहाँ जाकर सरस आहार ग्रहण करते हैं और आहार के लिए जो स्तुति, प्रशंसा एवं चाटुकारी करते हों, वे निश्चय ही सुसाधु नहीं, किन्तु वनीपक (-दीन, भिखमंगा या मंगत) है ।।४२।।

जिह्वालोलुप में संयम नहीं होता । वह सरस आहार की टोह में रहता है और किसी भी रीति से अपना मनोरथ पूर्ण करने में प्रयत्नशील रहता है । आजकल तो कोई-कोई साधु, अपनी सेवा में गृहस्थों के समूह के साथ वाहन को रखने लग गये हैं । जहाँ जाते हैं, वहाँ भोले उपासकों से उसे सहायता दिलवाते हैं और वह साथी, उनकी इच्छित वस्तु बाजार से ला देता है । किन्तु जो सुसाधु होते हैं, वे तो रूखा-सूखा, अच्छा या बुरा, जैसा मिले वैसा खा लेते हैं और नहीं मिले, तो संतोष धारण कर लेते हैं, किन्तु संयम की रक्षा करते हैं ।

धर्म पिशाच

जोइसनिमित्तअक्खरभुइकम्माइं जे पउंजंति ।
अत्तट्ठियसुहहेउं, *धम्मपिसाया* न ते मुणिणो ।।४३।।

ज्योतिष, निमित्त, अक्षर और भूतिकर्म आदि विद्याओं की योजना जो अपने सुख के लिए करता है, वह मुनि नहीं, किन्तु धर्म पिशाच है ।।४३।।

ऐसी आत्मा तो धर्म का ढोंग करके अपना स्वार्थ साधती है,

उनमें संयम के भाव कहाँ है ? आचार्य श्री ने उन्हें *'धर्म पिशाच'* कहा, यह ठीक ही है । क्योंकि धर्म तो नरोत्तम, मंगलमय, उत्तम एवं शरणभूत बनाता है, किन्तु धर्म के आवरण में रहकर अधर्म सेवन करते हुए जो स्वार्थ साधन करते हैं, वे प्रत्यक्ष पिशाच नहीं, किन्तु धर्म पिशाच हैं। उनसे धर्म का भक्षण और अधर्म का रक्षण होता है ।

आज्ञा भंग का परिणाम

रण्णो आणाभंगे, इक्कुच्चिय होइ निग्गहो लोए ।
सव्वण्णूआणभंगे, अणंतसो निग्गहं लहई [होई] ॥४४॥

लोक में राजाज्ञा का उल्लंघन करने पर एक ही बार दण्ड भोगना पड़ता है, किन्तु सर्वज्ञ भगवान् की आज्ञा का भंग करने पर अनन्तवार दुःख भोगना पड़ता है ॥४४॥

राजा तो स्वयं दण्ड देता है या राज व्यवस्था-नियम से, न्यायाधिकारी दंड देते हैं । सद्भाग्य से कभी राजदण्ड से बचाव भी हो सकता है, किन्तु सर्वज्ञ की आज्ञा का भंग करने पर बचाव नहीं होता और उसका दण्ड भी कोई दूसरा नहीं देता । वह कषायात्मा ही-उसकी विकारी आत्मा ही, आज्ञाभंग एवं दांभिकता के पाप से, अपनी आत्मा को कर्म के वैसे बन्धनों में जकड़ कर अनन्त दुःख का सर्जन कर लेती है ।

विष तुल्य

जत्थ य मुणिणो कय-विक्कयाइं कुव्वंति निच्चपब्भट्ठा ।
तं गच्छं गुणसायर! विसं व दूरं परिहरिज्जा ॥४५॥[1]

1. तुलना :- जत्थ य मुणिणो कयविक्कयाई कुव्वंति संजमब्भट्ठ ।
तं गच्छं गुणसायर! विसं व दूरं परिहरिज्जा ॥ - १०३ गच्छाचार पयन्ना।

जिस गच्छ में विवेकशून्य साधु, क्रय विक्रयादि करते हैं, उस गच्छ को गुणरूपी समुद्र में विष के समान जानकर दूर से ही त्याग कर देना चाहिए ।।४६।।

इस गाथा में परिग्रह के पाप से सम्बन्धित क्रय-विक्रय का उल्लेख किया है । जिस गच्छ के साधु, पुस्तकादि का क्रय-विक्रय (खरीदी और बिक्री) करते हैं, वह गच्छ जिनधर्म या धर्मसंघ रूपी गुण-समुद्र के लिए विष के समान है। उसे तो दूर से ही त्याग देना चाहिए ।

जिस प्रकार शरीर में विस्फोटक रखना सारे शरीर के लिए हानिकारक है, उसी प्रकार निर्ग्रन्थ संघ में परिग्रह प्रवृत्ति होना हानिकारक है, फिर भले ही वह पुस्तक के नाम पर हो या उपकरण व्यवस्था के लिए, अथवा संस्था के लिए ही हो, परिग्रह का लेन देन, क्रय विक्रय और हिसाब किताब रखना, देखना आदि प्रपंच, साधुता के विरुद्ध है । किसी संस्था या पत्र के लिए चन्दा करवाना भी उसके लिए निषिद्ध है । जो क्रय विक्रयादि करता है, वह अपने संयम रूपी अमृत में असंयम रूपी विष घोलता है । जिस संघ में ऐसा विषैला गच्छ हो, उसे शीघ्रातिशीघ्र पृथक् करके संघ रूपी गुणसागर को असंयम के विष से बचा लेना चाहिए, तभी तो संघ विशुद्ध रहता है । अन्यथा सारा संघ दूषित हो जाता है ।

इस जमाने में विशुद्धि का विचार कुछ साधुओं में तो नष्ट प्रायः हो गया है ।

केवल समूह पक्ष का विचार ही शेष एवं सर्वोपरि हो गया है । इसके लिए निन्दा, ईर्षा, द्वेष, झूठे वक्तव्य एवं स्पष्टीकरणादि निकालकर भ्रम फैलाया जाता है ।

उज्ज्वल वस्त्र

वत्थाइं विविहवण्णाई, अइसियसद्दाइं धूववासाइ ।
पहिरिज्जइ जत्थ गणे, तं गच्छं मूलगुणमुक्कं ॥४६॥

जिस गच्छ में विविध रंग के वस्त्र, अत्यंत श्वेत, शब्द (कलप लगाने से कड़कड़ शब्द) करने वाले धूप से सुगंधित किये हुए वस्त्र पहिने जाते हैं, वह गच्छ, मूल गुण से रहित है ।।४६।।

रंगीन वस्त्रों का प्रचार तो अभी देखने में नहीं आता, परन्तु अत्यंत श्वेत-उज्ज्वल वस्त्रों का परिधान तो प्रायः सभी में हो चुका है बहुत थोड़े साधु-साध्वी इस चटक-मटक के रोग से बचे हैं । वस्त्र धोते-धोते, सोड़े का उपयोग करने लगे, फिर साबुन का और अब कोई-कोई फैशन परस्त टिनोपाल का भी प्रयोग करने लगे हैं । जिनसे फैशन परस्ती भी नहीं छुटी, वे भी क्या संयमप्रिय हैं ? जिस गच्छ में ऐसे सुशोभित वस्त्र वाले साधु हों-आचार्य श्री हरिभद्रसूरिजी उस गच्छ को ही चारित्र के मूलगुण से शून्य कहते हैं ।[1]

यह चटकिलापन की भावना लोकैषणा से तथा चक्षु एवं स्पर्शनेन्द्रिय विषय की कामना से उत्पन्न होती है । इस प्रकार की भावना में संयमप्रियता कहां रहती है ? दशवैकालिक सूत्र अध्याय ६ गाथा ६६ में कहा है कि-

विभूसावत्तियं भिक्खू, कम्मं बंधइ चिक्कणं ।
संसार सायरे घोरे, जेणं पडइ दुरुत्तरे ।।

शरीर की विभूषा एवं शोभा करने से साधु, चिकने कर्मों

1. आचार्यादि व्याखाता मुनियों के लिए कारणिक उज्ज्वल वस्त्र की बात बढ़ते-बढ़ते अब तो चारों ओर उज्ज्वल ही उज्ज्वल वस्त्र दिखाई देते है। अब तो श्रावक संघ भी मलीन वस्त्रधारी साधुओं को देखकर टीका टीप्पणी करने लग गया है। कहीं-कहीं साधु भी टीका-टीप्पणी कर लेते है।

का बन्ध करता है, जिससे जन्म जरा मरण के भय से भयंकर ऐसे संसार सागर में गिरकर गोते खाता रहता है । उसका तिरकर पार पहुँचना बहुत ही कठिन है ।

घट्ठा मट्ठा पंडुर-वसणा, दवदवचरा पमत्तमणा ।
उद्दामा सूयलुव्व, निरंकुसा दुट्ठनागुव्व ॥४७॥
जत्थ य विकहाइपरा कोउहला, दव्वलिंगिणोकूरा ।
निम्मेरा निल्लज्जा, तं गच्छं जाण गुणभट्ठं ॥४८॥

जिस गच्छ में घिसकर, मसलकर एवं सल निकालकर कोमल और श्वेत किये हुए वस्त्र धारण करने वाले, शीघ्रता से चलने वाले, प्रमाद पूर्ण मन वाले, अभिमानी की तरह उद्दाम-प्रचंड एवं दुष्ट हाथी की तरह निरंकुश, विकथादि में तत्पर कुतूहल वाले, क्रूर, मर्यादाहीन और निर्लज्ज ऐसे साधु होते हैं, उस गच्छ को गुणों से भ्रष्ट गच्छ जानना चाहिए ।।४७-४८।।

निरंकुश, उद्दण्ड, निर्लज्ज एवं मर्यादाहीन तो केवल लिंग से ही साधु अथवा नाम निक्षेप से साधु हैं, गुण की अपेक्षा तो असाधु ही है । ऐसे साधुओं का समूह जहाँ हो, वह भ्रष्ट समूह कहा जाय, तो अनुचित नहीं है ।

निरंकुश बैल

अन्नत्थियवसहा इव, पुरओ गायंति जत्थ महिलाणं ।
जत्थ जयारमयारं, भणंति आलं सयं दिंति ॥४९॥
जत्थ य अज्जालद्धं, पडिग्गहमाइ य विविहमुवगरणं।
पडिभुंजई साहूहिं, तं गोयम! केरिसं गच्छं ॥५०॥

जिस गच्छ में बिना नाथे हुए बैलों जैसे, स्त्रियों के सामने गायन करने वाले साधु हैं, जिस गच्छ के साधु 'ज' कार 'म'

कार (यद्वातद्वा) तुच्छ वचन बोलते हैं और स्वयं दूसरों पर कलंक लगाते हैं तथा जिस गच्छ में साध्वियों से पात्र तथा विविध उपकरण लेकर साधु उनका परिभोग करते हैं[1], तो हे गौतम! वह कैसा गच्छ है? अर्थात् उस समूह को गच्छ कैसे कहा जाय? ।।४९-५०।।

जहाँ मर्यादा हीनता है, वहाँ साधुता है ही कहाँ ? स्त्रियों से सम्पर्क, साध्वियों से लेन देन, ये सब असाधुता के लक्षण हैं । जिस समूह में साध्वी वर्ग स्वच्छन्दता पूर्वक विचरण करता है, वह कुगच्छ है ।

वज्जेह अप्पमत्ता !
अज्जासंसग्गिअग्गिविससरिसा [सरिसी] ।
अज्जाणुचरो साहू,
लहइ अकित्तिं खु अचिरेण ।।५१।।[2]

जिस गच्छ में साधु, अप्रमादी होकर, साध्वियों के संसर्ग को अग्नि और विष के समान समझकर छोड़ देते हैं, (वह गच्छ है) क्योंकि साध्वियों के संसर्ग वाला साधु, निश्चय ही निन्दित होता है ।।५१।।

जत्थ हिरण्णसुवण्णं,
हत्थेण पराणगं पि नो छिप्पे ।
कारणसमल्लियं पि हु गोयम!
गच्छं तयं भणिमो ।।५२।।[3]

हे गौतम! जिस गच्छ के साधु, दूसरों के चांदी सोने का भी

1. यह प्रवृत्ति तो लगभग सभी गच्छों में प्रवृत्तमान हो गयी है। पात्रा रंगने का कार्य, रजोहरण बनाने का काम लगभग साध्वियाँ ही करती है। यह कहां तक योग्य है? इस पर गच्छाधिपतियों को चिंतन मनन करना चाहिए।

2. तुलना :- गच्छाचार पयन्ना गाथा ६३ । 3. गच्छाचार पयन्ना गाथा ६०

स्पर्श नहीं करते और कारण उपस्थित होने पर भी जो द्रव्य का स्पर्श नहीं करते, उस गच्छ को मैं निश्चय ही गच्छ कहता हूँ ।।५२।।

संस्था के लिए अर्थ संग्रह करना और उसके हिसाब किताब देखना भी साधुता का घात करना है।

जत्थ य बाला लहुचा, गिण्हंति धणेहिं पंडगजणुव्व ।
भासइ पवयणमग्गं, कहमत्तहिओ पवत्तेइ ।।५३।।

जिस गच्छ में साधु पंडक-नपुंसकजन की तरह धन देकर छोटे-छोटे बालकों को लेते हैं और प्रवचन-धर्म मार्ग की प्ररूपणा करते हैं, उस गच्छ में आत्महितकारी प्रवृत्ति कहाँ से आयगी ? ।।५३।।

वर्तमान में साधु बनाने के लिए जो साधु, धन दे दिलाकर छोटे बालकों को खरीदते हैं और ऐसा करना प्रवचन संगत बतलाते हैं, उन शिष्य लोलुपियों में आत्म विशुद्धि कारक प्रवृत्ति होना संभव नहीं है। और अधिकतर खरीदकर बनाये हुए साधु आचारहीन बनकर शासन की अवहेलना ही करवाते हैं।

अप्पमणालोइयवओ, दिंति परेसिं तवेण आलोयणा ।
मुसंतिअइमुद्धजणं, गिण्हंति धणं अहम्मेण ।।५४।।

आत्ममनालोचित अर्थात् मनःकल्पित वचन बोलने वाला साधु, दूसरों को तप रूप आलोचना (प्रायश्चित्त) देता है, वह भोले जीवों को लूटता है और अधर्म के द्वारा उनका धर्म ग्रहण करता है ।।५४।। गीतार्थ के अलावा दूसरे मुनियों को आलोचना देने का अधिकार नहीं है।

भ्रष्टाचार का पाप

जे बंभचेरभट्ठा, पाए पाडंति बंभयारीणं ।
ते हुंति टुंटमुंटा, बोही वि सुदुल्लहा तेसिं ।।५५।।

– आवश्यक निर्युक्ति गाथा ११०९

ब्रह्मचर्य से भ्रष्ट हुआ साधु, अन्य ब्रह्मचारियों को अपने चरणों में झुकाता है, वह साधु, अगले भव में टुंट मुंट (हाथ से टुंटा, पाँव से लंगड़ा-अपंग) होता है और उसे बोधि-बीज का प्राप्त होना भी कठिन हो जाता है ।।५५।।

बह्मचर्य से भ्रष्ट साधु अपने आपको सर्वत्यागी एवं पूर्ण रूप से ब्रह्मचारी कहलाकर, दूसरे ब्रह्मचारियों एवं साधुओं को अपने चरणों में झुकाता है, उनका पूज्य बनता है । उपासकों से आदर सत्कार पाता है, किन्तु वह ब्रह्मचारी नहीं है, गुप्तरूप से व्यभिचार का सेवन करता है, तो उस भ्रष्ट साधु का वह पाप, अतिशय अशुभ कर्मबन्धन का कारण होकर दुःखदायक होता है । उस गुरुतर पाप के उदय से अगले जन्म में वह टुंटा, लंगड़ा एवं अपंग होता है । हीनदशा को प्राप्त होता है । उस मायाचारी को फिर बोधिबीज-धर्म का मूल सम्यग्दर्शन का प्राप्त होना भी कठिनतर हो जाता है ।

भ्रष्टाचारी व्यभिचारी का यह पाप कम नहीं है । यह महामोहनीय कर्म बन्ध का कारण है। दशाश्रुतस्कन्ध दशा ९ में भी कहा है कि—

अकुमारभूए जे केइ, कुमारभूए त्ति हं वए ।
इत्थिविसयगिद्धे य, महामोह पकुव्वइ ।।११।।
अबंभयारी जे केइ, बंभयारि त्ति हं वए ।

गद्दहे व्व गवं मज्झे, विस्सरं नयई नदं ।।

अप्पणे अहिए बाले, मायामोसं बहुं भसे ।

इत्थीविसयगेहीए, महामोहं पकुव्वइ ।।१२।।

अर्थात्-जो कुमारभूत-बालब्रह्मचारी नहीं है और स्त्रियों के साथ भोग करने में आसक्त है, फिर भी अपने को कुमारभूत-बालपन से ही सर्वथा विषय भोग से वंचित बतलाता है, वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है ।।११।।

जो वास्तव में ब्रह्मचारी नहीं है, किन्तु लोगों में अपने को ब्रह्मचारी के रूप में प्रसिद्ध करता है, *वह गायों के झुंड में गधे के समान रेंकने वाला है ।* वह मायाचारी छलयुक्त महान् झूठ बोलता हुआ, स्त्री-विषय में लुब्ध रहता हुआ महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है ।।१२।।

महामोहनीय कर्म बन्ध के उपरोक्त स्थान के उपरांत सातवें महामोहनीय स्थान का भी वह पात्र है, जिसमें-

'गूढायारी निगूहिज्जा मायं मायाए छायए'

जो गूढ़ाचारी-मायाचारी अपने पाप को माया के द्वारा छुपाकर शुद्धाचारी के रूप में अपने को रखता हुआ धोखा देता रहता है, वह महामोहनीय कर्म का बन्धक होता है।

ऐसे दंभियों का दंभ-व्यभिचार सर्वथा छुपा ही रहता है-ऐसी भी बात नहीं है । समझदार उपासक उपासिकाएं, उसकी मर्यादाहीनता देखकर समझ जाते हैं, फिर भी वे सत्त्वहीनता, पक्षपात एवं *बखेड़ा खड़ा होने के भय से उपेक्षा करते रहते हैं ।*

साथी साधुओं की खुद की कमजोरी, शिष्यलुब्धता एवं उपासकों की अशक्ति, उनके व्यभिचार को नहीं रोक सकती ।

उस भ्रष्ट अंग को पृथक् करके साधुता एवं वीर धर्म की

उज्ज्वलता की रक्षा नहीं करती। यदि कोई धर्मप्रिय व्यक्ति धर्मभावना से प्रेरित होकर दंभियों के दंभ को रोकने का प्रयास करता है, तो

भ्रष्टाचारी के पक्षकार उसके शत्रु हो जाते हैं ।

वे उस वीर शासन प्रेमी को तबाह करने-बरबाद करने पर उतारू हो जाते हैं । सम्बन्धियों और जाति में झगड़ा खड़ा करवाते हैं, मित्रों को शत्रु बना देते हैं । संप में फूट एवं शांति में अशांति खड़ी करके अपनी सुरक्षा का प्रबंध कर लेते हैं ।

यदि इन भ्रष्टाचारियों के विरोध का प्रश्न उपस्थित होता है, तो धर्म के अनजान, भेड़चाल के चलने वाले एवं विवेकहीन लोग कहते हैं, कि-'यदि इनका विरोध किया, तो फिर हमारे यहाँ कोई साधु साध्वी नहीं आयेंगे। हमारा क्षेत्र खाली रह जायगा । जो खोटा होगा, वह अपने पाप का फल भुगतेगा । हमें इस झगड़े में पड़ने की आवश्यकता ही क्या है । चले वैसा चलने दो । आज जमाना ही ऐसा है', इत्यादि बातें कहकर उसको दबाने का प्रयत्न करते हैं । यदि वह उस भ्रष्टाचारी को अपनी पापलीला बंद करने का कहता है, तो वहाँ के समाज वाले स्त्री-पुरुष उसके विरोधी होकर इधर-उधर यों कहा करते हैं कि-'अमुक व्यक्ति साधुओं को तंग करता है, इसलिए वे नहीं आते ।' उन बिचारे अज्ञानियों को भ्रष्टाचारी, वेशोपजीवी की अपेक्षा है, किन्तु वीरधर्म की पवित्रता, श्रमणोपासकपन के कर्त्तव्य एवं पाप को प्रोत्साहन देकर सिर पर चढ़ाने की अधमता का कुछ भी विचार नहीं है । उनकी दृष्टि में तो केवल वेश मात्र है और वाचालता-जनरंजन की कला । यदि कोई भ्रष्टाचारी जनरंजन में कुशल है, तो उसके लिए तन, मन और धन अर्पण

कर दिया जाता है । *कई भोंदू भक्त उसके अंधपुजारी हो जाते* हैं और उसके भयानक पाप को दबाने का प्रयत्न करते हैं । पचास हजार साधु साध्वियों के प्रमुख एवं भगवान् महावीर के पट्टशिष्य, महाश्रमण गौतम अनगार की मामूली सी बात पर जो श्रावक उन्हें कह सकता है, उसी उपासक परंपरा के हमारे नाम मात्र के धोरी श्रावक, व्यभिचारियों को भी कुछ नहीं कह सकें और वीर परंपरा को पतन की ओर जाने दें, यह कैसी हीनतम दशा है?

साधु के समीप व्याख्यान, के अतिरिक्त, साध्वियों और गृहस्थ महिलाओं को बैठने की आवश्यकता ही क्या है ? किन्तु उपाश्रय में देखते हैं, तो दिन में १ बजे के बाद वृद्ध साधु एक ओर बैठे हैं, तो उनसे दूर कोई युवा साधु, कुछ स्त्रियों के साथ हँस हँसकर बातें कर रहा है ।

कहीं कोई एक कमरे में अकेली स्त्री के साथ गुपचुप न जाने क्या कर रहा है ?

आश्चर्य होता है कि इन मर्यादा भ्रष्टों का उपाय उपासक वर्ग क्यों नहीं करता ? क्यों बे समय साधुओं के पास स्त्रियों को जाने देता है? ऐसे दृश्य देखकर उन साधुओं और स्त्रियों पर पाबंदी क्यों नहीं लगाता ? यदि प्रत्येक संघ परिवार के प्रमुख द्वारा ऐसी पाबंदी लगा दी जाय, तो भ्रष्टाचार के एक बड़े कारण पर अंकुश लग जाता है । किन्तु सत्वहीन एवं व्यर्थ के झगड़े खड़े करके आपस में ही लड़ने वाले, उन वेशधारियों के और उनके पक्ष के हथियार बनकर क्लेश की उदीरणा करने में ही वे श्रावक अपना धर्म समझते हैं । ऐसी दशा में भ्रष्टाचार का

निरोध होना कठिन हो गया है ।

भ्रष्टाचार की रोक में एक बड़ी बाधा है-समूहवाद-गच्छवाद की ।

गच्छ में रहे हुए भ्रष्टाचारी को भी सिर पर चढ़ाना और अन्य गच्छ के शुद्धाचारी का विरोध करना, यह गच्छवाद का भीषण दोष है । गच्छवाद की रक्षा के लिए मिथ्यात्वी, आडम्बरी और व्यभिचारी को भी सिर पर बैठाया जाता है । ऐसी दशा में वीर धर्म एवं निर्ग्रन्थ परंपरा की रक्षा नहीं हो सकती ।

उपासक वर्ग भ्रष्टाचार का सफल उपाय कर सकता है । जहाँ वह स्त्रियों का अधिक सम्पर्क देखे, वहाँ प्रभावशाली विरोध करे, उन्हें जाहिर में लावे । उनका वंदन व्यवहार बंद कर दे, तो भ्रष्टाचार समाप्त हो सकता है । यह मानना भूल है कि 'इससे हमारे धर्म की बदनामी होगी ।' संसार के लोग यह तो जानते हैं कि सभी समूह सदाकाल पवित्र नहीं रहते । बुराइयाँ सभी में उत्पन्न होती है । बुरा समूह वह है जो बुराइयों को भी भलाई के आवरण में ढककर सिर पर उठाये फिरता है । जो संस्था बुराइयों को दूर करती रहती है, उसको सहन नहीं करती, वह प्रशंसनीय होती है । भ्रष्टाचारियों का प्रभावशाली उपाय होता रहे, तो इससे समाज की प्रशंसा होती है । लोग भी कहते हैं कि "जैन समाज भ्रष्टाचारियों को निकाल फैकता हैं । यह जाग्रत समाज है । सुसाधुओं की ही इसमें प्रतिष्ठा होती है ।" जिस प्रकार रिश्वतखोरी का तत्परता से किया हुआ जाहिर उपाय, शासन की प्रतिष्ठा बढ़ाता है, उसी प्रकार व्यभिचारियों को दूर करने का प्रभावशाली उपाय समाज की प्रतिष्ठा बढ़ाता है ।

पेट भरे, लोभी, मूर्ति बेचने वाले

सीसोदराइफोडणभट्टितं, लोहहेउगिहिथुणणं ।
जिणपडिमाकयविक्कय, उच्चाडणखुद्दकरणं च ॥५६॥

ये साधु, शिष्य का उदर भरने के लिए भृत्यत्वसेवा करते हैं, लोभ के वश होकर गृहस्थों की स्तुति करते हैं, जिन-प्रतिमा का क्रय विक्रय करते हैं, उच्चाटन आदि मलिन विद्याओं का प्रयोग करते हैं ॥५६॥

आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी अपने समय के साधुओं का वर्णन करते हुए उनकी हीन दशा बतलाते हैं । उस समय भगवान् महावीर की निर्ग्रन्थ परंपरा के वंशज कहलाने वाले संसार त्यागी साधु, स्वार्थ से प्रेरित होकर गृहस्थों की सेवा भी करते थे । उनका कोई काम कर देते थे, जिससे गृहस्थ प्रसन्न होकर कृपालु बना रहे। वे गृहस्थों की प्रशंसा एवं स्तुति करके उनके हृदय में अपना स्थान बनाये रखने और उनसे अपना स्वार्थ साधने में प्रयत्नशील रहते थे ।[1] यदि किसी पर अपनी धाक जमानी होती या परेशान करना होता, तो उच्चाटनादि विद्या के प्रयोग भी करते थे । जिनमें साधुता नहीं हो या जिनकी रुचि साधुता से हटकर स्वार्थ साधने में लगी हो, वे नाम के साधु, वेशोपजीवी साधु, किसी भी तरह से अपनी पेटभराई और मान प्रतिष्ठा बनाये रखने की ही धुन में रहते हैं । आज भी वेशोपजीवी साधुओं का लगभग यही हाल है ।

प्रतिमा की खरीदी और बिक्री का काम भी उस समय जैन

1. इसी बात को लेकर विक्रम संवत तेरह सो दश में श्रीचंद्रसूरिजीने श्रावकों को खुश रखने के लिए साधु को श्रावकों को प्रतिक्रमण करवाने का विधान बनाया ।

साधु करने लग गये थें । वर्तमान में मूर्ति पर नाम लिखवाने के लिए साधु द्वारा रूपये मंडवाने लिखवाने का काम चल रहा है । यह भी एक प्रकार से विक्रय ही है ।
वर्तमान में मूर्ति के अतिरिक्त फोटु का क्रय विक्रय भी होता है ।

संग्रहखोर

सन्निहिमाहाकम्मं जलफलकुसुमाइ सव्वसच्चित्तं ।
निच्चं दुतिवारभोयण विगइलवंगाइतंबोलं ॥५७॥

ये सन्निधि रखते-संग्रहखोरी करते हैं, आधाकर्मी वस्तु का आचरण करते हैं, पानी, फल और पुष्पादि सभी सचित्त वस्तुओं का सेवन करते हैं । सदैव दो और तीन बार भोजन करते हैं। विगयों का सेवन करते हैं और लवँग, इलायची आदि मुखवास का सेवन भी करते हैं ।।५७।।

आचार्यश्री अपने समय की साधुओं की स्थिति का वर्णन करते हुए बतलाते हैं कि वे नामधारी साधु, स्वादिष्ट एवं मनोज्ञ खाद्य पदार्थों और वस्त्रादि का भविष्य में उपयोग करने के लिए संग्रह करते हैं । यह संग्रहखोरी आत्मदृष्टि से विमुख होकर विषय पोषण की अथवा देहपोषण की दृष्टि से होती है। कहाँ तो निर्ग्रन्थ महात्माओं का-

'अरसाहारे, विरसाहारे, लुक्खाहारे, तुच्छाहारे' और *''बिलमिव पणगभूए''*

का विधान और कहाँ यह चटोरापन, रसनेन्द्रिय का विषय पोषण और देह का पुष्टिकरण और साथ ही संग्रहखोरी । साधुता की रुचि ही कहाँ है ?

यह संग्रहखोरी वर्त्तमान में भी उभड़ आयी है । वस्त्रादि का

संग्रह किया जाता है और ताले में बंद अलमारे में रखे जाते हैं। कहीं किसी गृहस्थ के यहाँ सुरक्षित रहता है। भावुक भक्त, भक्ति पूर्वक देते हैं और गुरुदेव मनुहार से संग्रह बढ़ाते रहते हैं। वह संग्रह कभी दूसरी तरह के अनाचार पोषण में भी काम में आता है। यह संग्रह केवल वस्त्रों का ही नहीं, रुपयों और धन का भी होता है। कोई ओघा, पात्र और पुस्तकों के लिए लेता है, तो कोई दवा के लिए। कोई-कोई तो

अपनी पूंजी ब्याज में लगाते भी सुने हैं।

कुछ वर्ष पूर्व एक नामांकित साधु के हजारों रुपये एक आसामी में डूब जाने की बात प्रचारित हुई थी। पाली में तो रुपये और जेवर तथा कई प्रकार की भोगोपभोग सामग्री पकड़ी गई थी। मुंबई में लोकर में से रुपये, केसेटे आदि भी निकाली गयी थी। दौंडायचा काण्ड में हजारों का संग्रह प्रकाश में आया था और भी अप्रकाशित संग्रह कुछ साधुओं के पास होगा ही। यह सब साधु के वेश में असाधुता है। ठगाई है। धोखाबाजी है।

श्रावक भी जिम्मेदार

उपासकों की सुपात्रदान देने की रुचि एवं साधुओं के प्रति भक्ति होती है, होनी ही चाहिए। किन्तु

वह भक्ति विवेक की आँखों से युक्त होनी चाहिए।

जिस वस्तु के देने से साधुता का पोषण हो, संयम पालन में सहायता हो, वही वस्तु उतनी ही मात्रा में भक्ति पूर्वक समर्पित करने से सुपात्रदान का लाभ होता है। जिस वस्तु की उन्हें आवश्यकता ही नहीं अथवा कम प्रमाण में आवश्यकता है, उसे अधिक देकर उनकी साधना में बाधक क्यों बना जाय ?

कई बार देखा गया कि ग्रामस्थ साधुओं की आवश्यकता के अनुसार भोजन की सामग्री प्राप्त हो चुकी है या एक दो रोटी की आवश्यकता शेष रही है, फिर भी उनसे आग्रह करना और अधिक सामग्री पात्र में डाल देना उचित नहीं है । यह विशेष सामग्री या तो अधिक खाकर या परठकर उठाई जाती है । इससे क्या लाभ होता है ? वस्त्र के विषय में भी कई बार देखा गया कि साधु तो लेने से इन्कार करते हैं, किन्तु भावुक उपासक कुछ न कुछ लेने की जिद्द पर अड़े रहते हैं । ऐसे समय सुसाधु तो उस जिद्द की परवाह नहीं करते, दाक्षिण्यता वश कुछ साधु ले लेते है और संग्रह खोर अपना काम बना लेते हैं ।

आहारादि उपयोगी वस्तुओं के अतिरिक्त रुपये, प्लास्टिक के पात्र, मूल्यवान बढ़िया विषयकषायोत्पादक, वस्त्र, मिथ्यात्व अविरति पोषक पत्र-पत्रिकाएं और पुस्तकें आदि वस्तुएं तो साधुओं को नहीं देनी चाहिए । कई साधु शरीर नीरोग होते हुए भी च्यवनप्रास, अवलेह और अन्य पौष्टिक दवाएं लेते हैं, कई प्राणिजन्य औषधिए लेकर शरीर पुष्ट बनाते हैं । यदि दाता भक्त विवेक रखे, तो सन्निधि का दोष साधु चाह कर भी सेवन नहीं कर सकते ।

आधाकर्मी आहारादि की प्रवृत्ति भी वृद्धि पर है । कई जानबुझकर आधाकर्मी ग्रहण करते हैं । स्थान के लिए तो साधु खुलमखुला उपदेश देकर आरम्भ करवाते हैं । दूर स्थान-दूसरे गांव से वस्तुएं मंगवाते हैं । इस प्रकार कई सहज साध्य नियम भी असंयमी परिणति के कारण पालन नहीं किये जाते ।

आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी के समय में सचित्त जल, फल पुष्पादि का सेवन साधुओं में हो रहा था । प्रारम्भ में ऐसी

प्रवृत्ति छुपाकर की जाती होगी, धीरे-धीरे साहस एवं संख्या बढ़ते जाहिर में उपभोग होने लगा होगा। पतन इसी प्रकार होता है ।

दो बार भोजन के सिवाय चाय, दूध और नाश्ता भी बहुतों में साधारण बात हो गई है । विगय सेवन में विवेक रखने वाले आत्मार्थी भी थोड़े रह गये । सुपारी, लवंग आदि का सेवन कई साधु साध्वी करते हैं। जहाँ संयम की परिणति है, वहाँ तो इस प्रकार की अमर्यादित प्रवृत्तियाँ नहीं होती, किन्तु वेशोपजीवी साधुओं में लोलुपता के कारण ऐसी प्रवृत्तियाँ आज भी हो रही है ।

वत्थं दुप्पडिलेहियमपमाणसकन्नियं दुकुलाई ।
सिज्जोवाणहवाहणआउहतंबाइपत्ताइं ॥५८॥

वे वस्त्रों की प्रतिलेखना नहीं करते या दुष्प्रतिलेखना (बेगार की तरह-प्रतिलेखना का डौल) करते हैं । अपरिमाणमर्यादा से अधिक तथा सकिर्णक-किनारी वाले ऐसे दुकुलादि (रेशमी आदि) वस्त्र काम में लेते हैं ।।५८।।

जहाँ संयम में रुचि नहीं हो और संग्रहखोरी हो वहाँ सुप्रतिलेखना की संभावना ही कहां रहती है ? आवश्यकता एवं लोभ बढ़ने से संग्रहखोरी होती है और संग्रहखोरी से प्रतिलेखना में बाधा उपस्थित होती है । जब ऐसी स्थिति बढ़ती है, तो दो बार से हटकर एक बार प्रतिलेखना करने के सुझाव प्रस्तुत होते हैं, किन्तु संग्रहखोरी में तो महिनों तक वस्तु अप्रतिलेखित ही पड़ी रहती है। इस संग्रहखोरी में वस्त्र, रंग बिरंगे पात्र, प्याले,

रकाबियां और पुस्तकें भी हैं और स्वामित्व के पुस्तक भंडार भी।

सुखदशय्या तो आज भी प्रचलित है । डनलोप की गादियाँ आ गई हैं । उपानह भी खुल्ले रूप में आ गये हैं । वाहन का उपयोग सामान के लिए विशेष होता है । सवारी के लिए तो किसी वृद्ध अपंग या रोगी के क्वचित् उपयोग करने के प्रसंग बने हैं । अभी प्रारम्भ ही है । किसी क्रान्तिकारी ने हिम्मत कर वाहन के रूप में चेयर लाई वह अब आ गई हैं । मोटर में विहार भी हो जाता है, रात को कौन देखता है ? काले काच की मोटरे भक्तों ने सुपात्र (कुपात्र) दान के लोभ में दे दी है । धातु के पात्र में घड़े आ गये हैं। कोई-कोई वस्त्र धोने आदि काम के लिए पडिहारे याचकर भी लाते हैं। धर्मशाला में रखे जाते है ।

प्रतिमा की रखवाली और उत्सव प्रियता

पडिमारक्खणपूया,समहिमजिणथुणणसवणपमुहाइ ।
इहलोयतवकारावणलहुहत्थाइकरणमेवं ॥५९॥

ये नामधारी साधु, प्रतिमा की रक्षा करते हैं, पूजा करते हैं और महिमापूर्वक-आडम्बर सहित जिन स्तवना और गायन वादिन्त्रादि श्रवण करते हैं अर्थात्-उत्सवादि की योजना करके उसमें गानतान और वादिन्त्र का कार्य करवाते हैं और उस मोहक दृश्य तथा कर्णप्रिय राग आदि को मस्त होकर सुनते हैं। इस लोक के लिए तप करवाते हैं और लघुकरण हस्तादि करण (हाथ की सफाई से जादुइ खेल दिखा कर मनोरंजन, अथवा

हाथ आदि से झाड़ा देकर शारीरिक बाधा दूर करने का डौल) करते हैं ।।५९।।

आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी, अपने समय के साधुओं की दुरवस्था एवं असाधुता का परिचय देते हुए कहते हैं कि ये नामधारी साधु, अपनी साधना को भूलकर श्रावक के करने योग्य कर्तव्य स्वयं करने लग गये, जैसे प्रतिमा-मूर्ति की रक्षा करने वाले-रखवारे बन गये और मुर्ति की पूजा करने लग गये। वे आडम्बर का आयोजन करके उत्सव रचाने तथा संगीत मंडली से रसीले भजनों का रंग जमाकर मस्त होकर राग सुनते हैं । पूजन पढ़वाने लगे है । वर्तमान में क्रिया कारक का काम स्वयं मुनि करने लगे है ।

स्थानकवासी परंपरा में भी संस्थाओं की रखवाली और उनके पोषण का जंजाल-कुछ साधुओं को लग गया है । जहाँ जाते हैं, वहाँ अपनी संस्था का पोषण करने का प्रयत्न करते हैं। शताब्दि उत्सवों का आयोजन होता है, उसमें संगीत एवं नृत्यादि का कार्यक्रम भी प्रारम्भ हो गया है । आडम्बरी प्रवृत्ति में मानपत्र एवं अभिनंदन ग्रंथ के समर्पण का प्रकार विशेष रूप में बढ़ गया है ।

हजामत

सिरत्तुंडे खुरमुंडं रयहर[ण]मुहपत्तिधारणं कज्जे ।
एगागित्तब्भमणं सच्छंदं चिट्ठियं गीयं ।।६०।।

ये मस्तक और मुख पर उस्तरे से मुंडन करवाते (हजामत बनवाते) हैं । कार्य होने पर रजोहरण और मुखवस्त्रिका धारण करते हैं। अकेले भ्रमण करते हैं । स्वच्छन्द चेष्टा करते हैं और

गीत गाते हैं ।।६०।।

कुछ वर्ष पूर्व पंजाब के किसी साधु ने लोच के विरुद्ध पेम्पलेट प्रचारित किये थे । उसके पूर्व श्रीसंतबालाजी ने भी विरुद्ध अभिप्राय व्यक्त किया था । हमने ऐसे कई साधु देखे जिनके मस्तक पर बड़े-बड़े बाल थे, किन्तु दाढी बिलकुल सफाचट, जैसे उस्तरे से साफ की हो । एक तरफ यह हाल है, दूसरी ओर कोई-कोई त्याग भावना वाले श्रावक अपनी इच्छा से ही स्वयं लोच करते हैं। जहाँ श्रद्धा और संयम की रुचि होती है, वहाँ लोच का कष्ट नगण्य बन जाता है, किन्तु सुखशीलियापन में लोच से बचकर केश कर्त्तन की प्रवृत्ति होती है।

उस समय रजोहरण और मुखवस्त्रिका पर भी साधुओं की उपेक्षा तथा अप्रसन्नता हो गई थी।[1] काम होता, कहीं जाना होता, या किसी वैसे व्यक्ति से मिलने का प्रसंग आता, अथवा व्याख्यान का अवसर होता, तब तो उपयोग करते अन्यथा इधर-उधर पड़े रहते । होते-होते मुहपत्ति की यहाँ तक स्थिति बनी कि वह कभी तो कमर के चोलपट्टे में खोंसी हुई रहने लगी और कभी इधर-उधर पड़ी पैरों में कुचली जानें लगी, और व्याख्यान में मुट्ठी में पकड़ी हुई रह जाती है, जब दोनों हाथ हीलते है ।

एकाकी भ्रमण, स्वच्छन्दता आदि सब दुराचार के लक्षण हैं । श्री हरिभद्रसूरिजी म. ने इन दुराचारों के विरोध में आवाज उठाई। यद्यपि उस बढ़ते हुए विकार को उनकी आवाज नहीं रोक

1. वर्तमान में विहार में रजोहरण थेला गाडी में रखकर दोनों हाथ हिलाते बुट पहने हुए एक महाराज को देखा था। (सं.)

सकी और रोग बढ़ता ही गया, परन्तु उन्होंने निर्भीक होकर अपना कर्त्तव्य निभाया । वे बुझदिल होकर चूपचाप देखते नहीं रहे । उनके ऐसे स्पष्ट विचारों से उनके विरोधियों की संख्या भी बढ़ी होगी । वे उनके शत्रु बने होंगे, किन्तु उन संस्कृतिप्रिय आचार्यश्री ने इसकी परवाह नहीं की । आज तो इतनी हिम्मत के दर्शन भी दुर्लभ हो गये ।

चैत्यवासी पूजारंभी देवद्रव्य-भोगी

"चेइयमठाइवासं पूयारंभाइ निच्चवासित्तं ।
देवाइदव्वभोगं, जिणहरसालाइकरणं च" ॥६१॥

ये चैत्य और मठ में रहते हैं, पूजा का आरम्भ करते हैं, सदैव एक ही स्थान पर पड़े रहते हैं, देव आदि द्रव्य का उपभोग करते हैं और जिनघर तथा धर्मशाला आदि बंधवाते हैं ।।६१।।

उस समय चैत्यवास पूर्णरूप से विकसीत हो चुका था । जहाँ-तहाँ साधु, मंदिरों में अड्डा जमाये रहते थे । मंदिर की व्यवस्था, मरम्मत, विकास, जिर्णोद्धार आदि किसी भी बहाने इच्छित स्थान पर टिक जाते थे और खुद पूजा करने लग गये थे । भगवान् की पूजा में पानी पुष्पादि का आरम्भ करना भी चालू हो गया था। इसमें संघ को भी लाभ था । उपासक तो कोई दिन-रात मंदिर में रहकर व्यवस्था और रक्षा कर नहीं सकता था । वेतनभोगी पुजारी भी समय पर पूजा आदि करके चला जाता था । क्योंकि उसके पीछे भी तो घर गृहस्थी के झंझट रहते थे। *जितनी उत्तम व्यवस्था साधु कर सकता है, उतनी और*

कौन कर सकता है ? साधु, दिनरात वहीं रहता है । उसे वेतन देने की भी आवश्यकता नहीं रहती। साधु स्वयं भी भक्त है, सो पूजा आदि भी अच्छी तरह उत्साह पूर्वक करता है । साधु के रहने से मंदिर आबाद भी रहता है । भक्तगण आते जाते रहते हैं । लोगों को प्रेरणा देकर धर्म में जोड़े रखने का प्रयत्न भी साधु करते हैं । इस प्रकार चैत्यवास के अनेक लाभ उपासकों ने देखे होंगे । ये लाभ बताकर ही चैत्यवासियों ने स्थायी अड्डा जमाया होगा और संघ ने भी स्वीकार किया होगा ।

१. चैत्य में निवास करने की साधुओं की उस प्रथा में लाभ देखने वाले की दृष्टि में लाभ तो बहुत दिखाई देता है, किन्तु उसमें रही हुई हानि दिखाई नहीं देती ।

२. जिन्हें लाभ भी दिखाई देता है और हानि भी । वे हानि की उपेक्षा करके लाभ के पक्ष में मिल जाते हैं । तात्कालिक वातावरण उन्हें उस पक्ष में धकेल देता है ।

३. जिन्हें हानि ही हानि दिखाई देती हैं और वे विरोध में खड़े हो जाते हैं ।

४. जो हानि लाभ दोनों को देखकर तटस्थ रह जाते हैं । वे आरंभादि सावद्य क्रिया के कारण समर्थन भी नहीं करते और विपक्ष में मिलने से बचने तथा शुभ भाव का निमित्त मानकर निषेध भी नहीं करते ।

इस प्रकार समर्थकों के बल से वातावरण की अनुकूलता पाकर कोई भी नई प्रवृत्ति, किसी वर्ग विशेष में स्थान पा लेती

है । तटस्थ वर्ग की उपेक्षा से विरोधी पक्ष के विरोध का भी कोई अधिक प्रभाव नहीं होता और समर्थक वर्ग, अपनी नई प्रवृत्ति में सफल होता है । फिर तो वह प्रवृत्ति चल ही पड़ती है । इसी प्रकार वर्तमान में ध्वनि-विस्तारक यंत्र, मिथ्या प्रचार, लेट्रीन का, चेयर का उपयोग आदि कई प्रवृत्तियाँ शुरू हो गयी है ।

चैत्यवास के प्रारम्भ में भी यह किसी ने नहीं सोचा होगा कि इसका निमित्त पाकर साधु, अपनी साधना भूला देगा और निवृत्ति मार्ग एवं निरवद्य जीवन भुलाकर सावद्य प्रवृत्ति अपना लेगा तथा चैत्यवासी होकर स्वयं पुजारी बन जायगा । साधना के शुद्ध मार्ग का भी उदय-ग्रस्त जीव, दुरुपयोग कर लेते हैं, तो पौद्गलिक अवलम्बन का दुरुपयोग होना तो सहज एवं सरल ही है । वे साधु नवकोटि विहार करने वाले भगवान् महावीर के निर्ग्रंथ नहीं रह कर मंदिर में रहने वाले चैत्यवासी बन गये । वे निरारंभी से सारंभी और निष्परिग्रही से सपरिगृही हो गये । वे निरवद्य जीवन खो बैठे ।

इस पतन के साथ ही उसमें बेईमानी भी आ गयी । वह देव गुरु और धर्म के नाम पर संग्रह किये हुए धन-देव-द्रव्य का भी उपभोग करने लग गया । सभी तो ऐसे नहीं होंगे, किन्तु एक बहुत बड़ा भाग इस स्थिति में आ गया ।

कुछ धर्मज्ञ साधु थे उनकी दृष्टि में यह स्थिति खटकी । उन्होंने दबी जबान से कानाफुसी की । किसी ने आवाज उठाई, तो उसका जीना दुभर हो गया । श्री हरिभद्रसूरिजी को यह स्थिति विशेष खटकी । उन्होंने आवाज उठाई । इस के बाद ऐसी ही

तीव्र आवाज श्री जिनवल्लभसूरिजी ने 'संघ पट्टक' ग्रंथ में उठाई थी । उन्होंने वैसे साधु नाम धारियों के विषय में लिखा था कि-

आकृष्टं मुग्धमीनान् बडिशपिशितवद्बिंबमादर्श्य जैनं ।
तन्नाम्ना रम्यरूपानपवरकमठान् स्वेष्टसिद्धयये विधाप्य ।।
यात्रास्नात्राद्युपायैर्नमसितक निशाजागराद्यैच्छलैश्च ।
श्रद्धालुर्नामजैनैश्छलित इव शठैर्वञ्च्यते हा जनोऽयम् ।।२१।।

अर्थात् - जिस प्रकार रसनेन्द्रिय में लुब्ध ऐसी मच्छियों को फँसाने के लिए, मांसाहारी लोग, काँटे में मांस लगाकर पानी में डालते हैं और उससे मच्छियाँ फँस जाती है, उसी प्रकार साधु वेशधारी लोग, भोले श्रद्धालु लोगों को ठगने के लिए, काँटे में लगाये हुए मांस के समान जिनमूर्ति दिखाकर और यात्रा, स्नान तथा रात्रि जागरण[1] आदि क्रियाओं के स्वर्गादि फल बताकर छल करते हैं और भोले अनभिज्ञ अंध श्रद्धालु जैनियों को ठगते हैं ।

इस प्रकार श्रद्धालु भक्तों को ठगते हैं और देव आदि के निमित्त से दिये हुए द्रव्य का भी उपयोग करते हैं । वास्तव में ऐसे सावद्याचारी और अनैतिक जीवन जीनें वाले लोग, मात्र वेश से ही साधु होते हैं ।

जिस प्रकार साधु वेश ग्रहणकर "सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि" प्रतिज्ञा लेने के बाद जिनघर-मंदिर बनवाने वाले सावद्याचारी हैं, उसी प्रकार स्थानक या उपाश्रय बनवाने वाले और इसकी प्रेरणा करने और आदेश देने वाले भी सावद्याचारी हैं । वे षट्काय जीवों का आरम्भ करवाकर अपने संयम का भंग करने वाले हैं ।

1. रात्रि जागरण, रात्रि भक्ति उन चैत्यवासियों की देन है। प्रबुद्ध वर्ग विचार करें।

पतन के निम्नतम चरण

ण्हाणुव्वट्टणभूसं, ववहारं गंधसंगहं कालं ।
गामकुलाइममत्तं, थीनट्टं थीपसंगं च ॥६२॥

वे कुगुरु स्नान करते हैं, उबटन करते हैं, विभूषादि करते हैं, सुगंधित तेल इत्र आदि का संग्रह रखते हैं, कालाचार करते हैं (मुहूर्त्तादि देखते और गृहस्थों को बताते हैं) ग्राम और कुल पर ममत्व रखते हैं। स्त्रियों का नृत्य देखते और स्त्री प्रसंग करते हैं ॥६२॥

उपरोक्त गाथा हकीकत बतलाती है कि वेश के सिवाय सर्वतोमुखी पतन हो चुका था । जब स्नान, मर्दन, उबटन और इत्रादि सुगंधित द्रव्यों का उपभोग होने लग गया, स्त्रियों के मधुर गीत, मनोहर नृत्य देखने लग गये,[1] और स्त्री प्रसंग भी करने लग गये, देव-द्रव्यादि के निमित्त से वित्त मिल गया, मंदिरों की आवक मिल गयी, पांचों इन्द्रियों के भोग मिल गये और स्त्री प्रसंग तक होने लगा, तो शेष बचा ही क्या ? केवल वेश और नाम ही । कितना पतन ? कितना अंधेर ? उपासकों में भी अंधापन कहां तक आया ?

पाठक देखें कि उपासकों के अज्ञान, अंधविश्वास और सत्वहीनता ने दुराचार को कहां तक बढ़ने दिया ? यदि ज्ञान नेत्र खुले होते या आचार्य श्री हरिभद्रसूरिजी की आवाज सुनी होती, तो ऐसी क्या स्थिति चल सकती थी ?

1. वर्तमान में वरघोडे में स्त्रियों को बच्चियों को नचाकर उनके अंगोपांगों को देखने का आनंद लूटने भी लग गये है। मोटरों में स्त्रियों के साथ बैठे साधु पकड़े गये। गुरुमंदिर में रतिक्रीड़ा के प्रसंग हो गये। तो साधुता रही ही कहां? कहीं बच्चियों ने स्त्रियों ने स्वेच्छा से भी समर्पण किया तो कहीं बलात्कार भी हुआ।

नरयगइहेउजोइसनिमित्त तेगिच्छमंतजोगाइं ।
मिच्छत्तरायसेवं नीयाण वि पावसाहिज्जं ।।६३।।

नरकगति के कारण रूप ऐसे ज्योतिष, निमित्त, मंत्र, चिकित्सा और योग (चूर्णादि वासक्षेपादि का प्रयोग) आदि करते हैं और रागपूर्वक मिथ्यात्व का सेवन करते हैं अथवा मिथ्यादृष्टि राजा की सेवा करते हैं । वे नीच पुरुषों के पाप कार्यों में भी सहायक होते हैं ।।६३।।

यह है निर्ग्रंथनाथ भगवान् महावीर के मंगलमय श्रमणों के पतन का निम्नतम चरण । जब अधोदृष्टि हुई और एक पग नीचे उतरे, तो उतरते उतरते उससे भी नीचे चले गये ।[1] रुककर पीछे देखा भी नहीं । उतरते-उतरते गृहस्थों की भूमि पर आकर उससे भी नीचे चले गये । आत्मसाधना तो छूट ही गयी । मठवासी होकर ज्योतिषी भी बन गये। उन्होंने देखा कि ब्राह्मण वर्ग, ज्योतिष के सहारे जनता में प्रतिष्ठित भी है और द्रव्य भी प्राप्त कर लेता है । जैन समुदाय भी इस निमित्त से इनका आदर करता है । क्यों न हम भी ज्योतिषी बन जावें और यह लाभ भी हम प्राप्त कर लें । उन्होंने ज्योतिष विद्या सीखी। निष्णात हुए और गृह, नक्षत्र, लग्न, भविष्य फल आदि बताने लगे । गृहशांति के उपाय बताकर जाप आदि करने लगे। मंत्र साधना से लोगों से हिताहित की साधना करने लगे । आयुर्वेद का अभ्यास करके वैद्य भी बन गये और मंत्रित चूर्ण के जोग से सुरक्षा की गारंटी भी देने लगे । स्वार्थ के वशीभूत होकर वे नामधारी श्रमण, मिथ्यात्वी देवों की आराधना करने लगे ।

1. वर्तमान में जन्मकुंडली बनाना, लग्न के मुहूर्त्त देना, विधवा के संबंध में कुंडली देखना आदि कार्य हो गये हैं, हो रहे है। श्रावकों की सुख शांति के लिए होम हवन भी नामधारी साधु करने लगे है।

जैसे-*ओम काली महाकाली मुण्डमालिनी, खड्गखप्परधारिणी महिषासुरमर्दिन, ममदुष्टदुर्जनवैरिविनाशाय स्वाहा । ओम काल भैरव.....ओम घंटाकरणमहावीर.....*आदि अनेक प्रकार के मंत्र जाप कर किसी के शत्रु का नाश करने, किसी का रोग मिटाने का विश्वास देने, किसी का दारिद्र दूर करने और विवाह, संतति आदि अनेक प्रकार के मनवांछित फल देने दिलाने की शक्ति धराने वाले के रूप में प्रसिद्ध हुए ।

इस प्रकार जैन श्रमण नामधारी, व्यक्ति, एक प्रकार से ब्राह्मण वर्ग जैसा बन गया । ब्राह्मण वर्ग भी देवमंदिरों की व्यवस्था, पूजा, ज्योतिष, गृहशांति, भविष्य दर्शन, मंत्र सिद्धि और वैद्यक आदि करता था और ये भी यही करते थे । दोनों धर्म-धुरा के धारक एवं धर्मोपदेशक थे। दोनों की आजीविका तथा इच्छा पूर्ति का साधन समाज ही था । वास्तविक त्यागी और सांसारिक प्रपंच तथा भोगासक्ति से वंचित कोई नहीं था ।

आचार्य श्री हरिभद्रसूरिजी के विवरण तथा अन्य ग्रंथों से उस समय के श्रमण नामधारी की यही दशा दिखाई देती है। एक ओर निर्ग्रंथ प्रवचन का घोष है कि—

जे लक्खणं सुविणं पउंजमाणे, निमित्तकोऊहल संपगाढे।
कुहेडविज्जासवदारजीवी, न गच्छई सरणं तम्मि काले ।।४५।।

जो साधु, लक्षण शास्त्र और स्वप्न शास्त्र का प्रयोग करता है तथा निमित्त (भविष्य) बतलाता है, कुतूहल (चकित कर देना) में आसक्त रहता है, जो आश्चर्य उत्पन्न करके आश्रव बढ़ाने वाली विद्या से अपना जीवन चलाता है । *ऐसे असंयमी के जब अशुभ कर्म उदय में आवेंगे, तब उसका रक्षक शरण देने वाला कोई नहीं होगा ।*

आचार्य श्री हरिभद्रसूरिजी खेद पूर्वक लिखते हैं कि क्या

हीनतम दशा हो गयी, इन निर्ग्रंथ एवं सद्गुरु नामधारियों की । कितना पतन हुआ है - इनका ।

सुसाधुओं के द्वेषी

सुविहियसाहुपओसं, तप्पासे धम्मकम्मपडिसेहं ।
सासणपभावणाए, मच्छरलउडाइकलिकरणं ॥६४॥

वे कुसाधु, सुविहित (शुद्धाचारी) साधुओं पर द्वेष करते हैं और साधुओं के समीप धर्मकर्म का निषेध करते हैं । सुसाधुओं द्वारा जिन शासन की प्रभावना होती हो, तो उसमें भी क्लेश खड़ा करते हैं और लकड़ी आदि से प्रहार भी करते हैं ॥६४॥

जिस प्रकार दुराचारिणी को सदाचारिणी नहीं सुहाती, वह उसे देख कर जलती है, उससे द्वेष करती है, उसका अनिष्ट चाहती है, उसी प्रकार कुसाधु को भी सुसाधु नहीं सुहाते । वे उन सुसाधुओं से द्वेष करते हैं, उनकी निन्दा करते हैं और उनका अपमान करना चाहते हैं । वे अपने बचाव में कहा करते हैं कि-

'अभी पंचमकाल है । पतनोन्मुखी समय है । इसमें शुद्ध धर्म और चरण करण नहीं रहता । चौथे आरे का आचार, पांचवें आरे में नहीं चलता। जिस प्रकार जिनकल्प का विच्छेद है, उसी प्रकार शुद्ध स्थविर कल्प का भी लोप है । अब तो जैसा पले वैसा पालना और भगवान् के शासन को चलाते रहना, यही ठीक है । जो शुद्धाचारी कहलाते हैं, वे तो ढ़ोंगी हैं, कपटी हैं। हम ढ़ोग करना नहीं जानते, जैसा पले वैसा पालते हैं"' इत्यादि ।

आचार्य श्री कहते हैं कि वे असाधु लोग, सुसाधुओं द्वारा की जाती हुई धर्म प्रभावना भी सहन नहीं करते और उनके सामने व्यर्थ के झगड़े खड़े कर के वातावरण को कलुषित बना देते हैं और अवसर पाकर मारपीट तक करते हैं ।

पतन की ओर जाने वाली साधुता में इस प्रकार की बातें होती रहती है ।

कुलनीइठिइभंग-प्पमुहाणेगप्पओससंदिसणं ।
सावाइभयदंसणमिमाइकज्जाइवट्टणयं ।।६५।।

वे कुलनीति एवं मर्यादा का भंग करने आदि अनेक दोषों का प्रचार करते हैं । उपासकों को शाप देने का भय बतलाते हैं । इस प्रकार अनेक कार्यों में वे लगे रहते हैं ।।६५।।

कुल परंपरा से चली आई उत्तम नीति एवं मर्यादा के विपरीत प्रचार कर उन्हें नष्ट करने में वे कुसाधु लगे रहते थे । वे लोगों से कहते—

"क्या रखा है इन रूढ़ियों में? ये रूढ़ियाँ मनुष्य को बांध देती है, उनकी स्वतंत्रता का हरण कर लेती है। स्वच्छन्द विचरण में मनुष्य का विकास होता है। रूढ़ि के बंधनों में बंधकर स्त्रियों की क्या दशा हो गयी? पशु में और उनमें क्या अंतर है? समिति, गुप्ति, समाचारी ये सब पुराने सड़कर जर्जर बने हुए नियम हैं। अब इनकी कोई आवश्यकता नहीं है । जमाने के साथ इन बंधनों को तोड़ कर स्वतंत्र हो जाना चाहिए ।"[1]

इत्यादि प्रकार से कुगुरु अपनी रुचि के अनुकूल प्रचार करते हैं, वे कुलोत्तम स्त्री-पुरुषों के मन में मर्यादा तोडने का भाव भरते और दूसरों के शिष्यों को बहकाते, उपासकों को अपने अधीन बनाये रखने के लिए वे अनुकूल और प्रतिकूल उपाय करते रहते हैं, लोगों को अपनी *मंत्र शक्ति, तंत्र शक्ति और देव-बल का*

1. वर्तमान में भी कुछ साधु यह कहते है कि आधा कर्मी बाधा कर्मी की बातें पुरानी हो गयी। अब उसको भूल जाओ। आज भी अपने भक्तों को अंगुठियाँ, पुडियाँ आदि देकर उनको सुख-संपत्ति प्राप्त करवाने का कार्य मुनि करते है। ऐसा करके गर्वित भी होते है ।

विश्वास दिलाकर प्रसन्न रखने और सुखी करने का प्रलोभन भी देते और भक्त गण अप्रसन्न होने पर शाप देकर अनिष्ट कर डालने का भय भी दिखाते हैं । इससे भोले उपासक उपासिकाएं दबी रहती है और पाखंड चलता रहता है । उनका जीवन ही अधिकांश प्रपंचमय होता है । उनकी प्रवृत्तियाँ वे करते ही रहते हैं।

व्यभिचारी

थीकरफासं बंभे संदेहकलंतरेण धणदाणं ।
वट्टणं य सीसगहणं नीयकुलस्सावि दव्वेणं ॥६६॥

वे स्त्रियों के हाथ का स्पर्श करते हैं ।[1] अब्रह्म का सेवन करते हैं, उसे धन देते हैं, उस स्त्री के कहने के अनुसार वर्तन करते हैं और धन देकर नीच कुल का शिष्य भी ग्रहण करते हैं ।।६६।।

आचार्य श्री हरिभद्रसूरिजी ने अपने समय के साधुओं के दुराचार का वर्णन करते हुए जो दशा बतलायी वह अपने आप में स्पष्ट है । उनमें से भावरूपी चारित्र आत्मा तो मर ही चुकी थी। वे सदाचारी गृहस्थ से भी गये बीते, वेश-विडम्बक मात्र रह गये थे । स्वार्थी, पेटार्थी, दरिद्रता से दुःखी संसार में जिनकी वासना पूर्ति नहीं हो सकने के कारण जो साधु बनते हैं, जिन पर मोहकर्म का विशेष दबाव होता है, उन लोगों की अधिकता में धर्म का पतन ही होता है । वे स्त्रियों के कथनानुसार वर्तन भी करते हैं । अर्थात् उनके साथ रतिक्रीड़ा भी कर लेते है । शिष्य लोलुप साधु भी अयोग्य व्यक्तियों को ग्रहण करके धर्म की इस प्रकार की दुर्दशा करवाते हैं ।

जिनमें त्याग वैराग्य का रंग नहीं, ऐसे साधुओं की जमात

1. आज कई साधु स्त्रियों का हाथ-हाथ में लेकर उनका भविष्य फल भी बताते हैं।

तो धर्म को लज्जाती है ।

स्वार्थ प्रेरित तप

अविहिकयाणुट्ठाणे पभावणं दंसणं पवाहकए ।
अपवयणुत्ततवंमि परूवणुज्जवणविहिकरणं ।।६७।।

वे अविधि से किये हुए अनुष्ठान की प्रभावना करवाते और दर्शन के प्रवाह को चलाते हैं । वे ऐसे तप की प्ररूपणा करते हैं कि जो जिन प्रवचन सम्मत नहीं है । वे ऐसे प्रवचन विरुद्ध तप की उज्जवणा विधि भी करवाते हैं ।।६७।।

आडम्बर खड़े करने में और अपनी आमदनी बढ़ाने में तप भी एक बड़ा साधन बन गया है । तप से उग्र व्रत धारण करने कराने से धर्म की प्रभावना होती है, किन्तु स्वार्थी लोगों ने इसका दुरुपयोग बहुत किया । इस बहाने से हजारों लोगों को एकत्रित करवाया जाता और उन लोगों से धर्म के नाम पर चढ़ावा लेकर द्रव्य संग्रह किया जाता था । आज भी तप के बहाने सावद्य प्रवृत्तियाँ बहुत होती है ।[1] साधु स्वयं मायाचार का सेवन करके आडम्बर खड़े करवाते हैं ।

असैद्धान्तिक तप अर्थात् निर्जरा का लक्ष्य छोड़कर स्वार्थ सिद्धि के लिए किये जाने वाले तप का श्री हरिभद्रसूरिजी ने भी विरोध किया है । इस प्रकार के तप कर्मबंध बढ़ाने वाले होते हैं ।

1. चोरी छीपे खाकर दुनियाँ को मासक्षमणादिका तप बताकर वाह-वाही लूट ली । चड़ावे बुलवा दिये, कहीं अणाहारी दवा के बल पर मासक्षमणादि तपश्चर्या कर वाह-वाही लूट ली गयी । इस प्रकार दिखावे का धर्म वास्तव में अधर्म के खाते में चला जाता है । इसका तप करने वाले को भी ख्याल नहीं है । तपश्चर्या के पारणे के चढ़ावे बुलवाकर धन इकट्ठा करवाकर आनंदित भी होते है । मेरे पारणे की इतनी बोली आयी देव-द्रव्यादि की वृध्दि हुई तो कहीं-कहीं सामायिक आयंबिलादि की बोली लगवाकर खुश होते हैं फिर वे सामायिक आयंबिल आदि पूर्ण हो या न हो, उनकी प्रशंसा तो हो ही जाती है । फिर आधाकर्मी आहार लेकर पारणा करते हैं । कहीं-कहीं उन रुपयों का उपयोग स्वेच्छानुसार करवाते है ।

पूजा का उपदेश और उपदेश पर कर

मयकिच्चे जिणपूयापरूवणं मयधणाणं जिणदाणे ।
गिहिपुरओ अंगाइपवयणकहणं धणट्ठाए ।।६८।।

वे असाधु लोग, अपने मत की स्थापना करने के लिए जिन-पूजा (प्रतिमा पूजन) की प्ररूपणा करते हैं और मृतक के धन को जिनेश्वर के दान (देवद्रव्य) में दिलवाते हैं ।[1] वे धन के लिए गृहस्थों के सामने अंग आदि का प्रवचन की प्ररूपणा करते हैं ।।६८।।

वे अपने मत की स्थापना करने के लिए-''साधु मूर्तिपूजा करे''-ऐसी प्ररूपणा करते थे ।

साधु की मूर्त्ति पूजा के साथ मात्र आरम्भ ही नहीं आया, उसके बाद परिग्रह भी आ पहुँचा और उसके भिन्न-भिन्न मार्ग भी खुल गये । मृतक का धन भी जिनद्रव्य में आकर-इकट्ठा किया जाने लगा । जिस प्रकार हमारी सरकार को पैसे की जरूरत होती है, तो नये कर लगा ही देती है, उसी प्रकार उस समय के महात्माओं को भी पैसे की जरूरत तो पड़ती ही थी । उनको पैसा प्राप्त होने का साधन धर्म ही था । वे इसी के निमित्त से पैसा प्राप्त करते थे । उनका धर्मोपदेश, शास्त्रवांचन आदि भी आमदनी का एक स्रोत बन गया था ।

सव्वावज्जपवत्तण मुहुत्तदाणाइ सव्वलोयाणं ।
सालाइ गिहिधरे वा खज्जगपागाइकरणाइ ।।६९।।

वे सभी लोगों को सभी पापों में प्रवृत्ति कराने वाले मुहूर्त्त

1. आज भी यह हो रहा है। साधु के शव के करोडों रूपये आने लगे है। और उनको किस खाते में ले जाना उसके लिए वाद-विवाद हैं।

देते हैं । वे उपाश्रय में या गृहस्थ के धर में खाजा आदि पक्वान्न तथा पाकादि करते, कराते हैं ।।६९।।

उस समय वे साधु, ज्योतिष में निष्णात होकर गृह निर्माण, यात्रार्थ प्रयाण, लग्न गर्भाधानादि संस्कार, कूपखननादि अनेक प्रकार के-सभी प्रकार के पापमय प्रवृत्ति वाले मुहूर्त्त निकालकर देते थे, केवल जैनियों को ही नहीं, जैनेतरों को भी-सभी लोगों को । उनकी ज्योतिष एवं सामुद्रिक विद्या की प्रशंसा सुनकर अन्य लोग भी उनके पास आते और उनसे मुहूर्त्त निकलवाते । शुभ मुहूर्त्त प्राप्त करने का अभिलाषी व्यक्ति खाली हाथ नहीं आता । खाली हाथ आना पहले से अपशुकन माना जा रहा था । अत एव श्रीफल और रूपानाणा (चांदी का सिक्का) तो लाता ही । उन महात्माओं को भी अपने ज्योतिष के धंधे के प्रसार और अर्थ भेट की अपेक्षा थी । पाप पुण्य एवं धर्म-अधर्म का विचार उनमें से निकल चुका था । उनकी ज्योतिष विद्या, पापप्रसारिणी और अर्थसाधनी बन गयी थी । यह प्रक्रिया कहीं-कहीं आज भी प्रारंभ है । इससे भोले भक्त खुश भी है । हमारे महाराज ने हमारे लिये मुहूर्त्त निकालकर दिया ।

स्वाद के शोकिन होकर वे गृहस्थ के घर में मिष्टान बनवाया करते थे तथा शीतादि काल में शरीर बल बढ़ाने के लिए मेथीपाक, सूँठपाक, बादामपाक आदि पाक बनवाकर ग्रहण करते थे । गृहस्थ के घर ही नहीं अपनी शाला उपाश्रय में भी पक्वान्नादि बनाकर मजे के साथ खाते थे ।[1]

1. ऐसा आज भी हो रहा है। और भक्त भक्ति के बहाने उनके रसनेन्द्रिय के पोषण में पाप के भागीदार बन रहे हैं।

यक्षादि के पूजक

जक्खाइ गुत्तदेवयपूया पूयावणाइ मिच्छत्तं ।
सम्मत्ताइनिसेहे तेसिं मुल्लेणं वा दाणं ॥७०॥

वे यक्षादि व गोत्रदेव की पूजा करते-कराते और अनेक प्रकार के मिथ्यात्व का सेवन करते थे । वे सम्यक्त्वादि का निषेध करते हैं और मूल्य लेकर (यक्षादि देव देवी की) बिक्री करते हैं ।।७०।।[1]

उस समय के साधु, केवल जिनोपासक ही नहीं रहे थे, वे यक्षोपासक भी बन गये थे । स्वार्थ ने उन्हें मिथ्यात्वोपासक एवं मिथ्यात्वी भी बना डाला था । इतना ही नहीं, वे सम्यक्त्व, विरति आदि का भी निषेध करते थे और यक्षादि की प्रतिमाओं की बिक्री भी करने लग गये थे ।

लगता है कि वर्त्तमान समय में जो हो रहा है, वह नया नहीं, किन्तु उस मध्यकाल की पुनरावृत्ति हो रही है । यक्षादि देव तो नहीं, किन्तु समाधि वंदना करवाने वाले और बुद्धादि के प्रशंसक अब पैदा हुए हैं । वे भगवान् महावीर से उनकी समानता बताने वाले हैं । उनके द्वारा मिथ्यात्व की प्रशंसा और सम्यक्त्व तथा सर्व विरति (दीक्षा) के प्रति उपेक्षा प्रकट हुई है । वे त्याग की शक्ति तोड़कर भोगासक्ति बढ़ाने की प्रेरणा करते हैं ।

समाधि सर्जक

नंदीबलिपीढकरणं, हीणायाराण मयनियगुरुणं ।

1. उस समय की यक्षादि की पूजना का परिणाम ही बढ़ते-बढ़ते यक्षादि के पृथक्-पृथक् भव्यातिभव्य मंदिर बनाने तक पहुँच गया है। भविष्य में न मालुम क्या होया? वर्तमान में कुछ साधु गांधी, ईशु, आदि के साथ महावीर की तुलना करवाकर शासन की अवहेलना का पाप अपने पर ले रहे हैं ।

वक्खाणस्स य मज्झे, महिला गायंति अप्पगुणा ।।७१।।
वे अपने हीनाचारी गुरुओं के भी नंदी (त्रिगड़े की रचना) बलिपीठ (स्तूप) आदि करते और करवाते हैं । व्याख्यान में महिलाएं उनके गुणगान करती है । इससे वे अपनी कृतकृत्यता का अनुभव करते हैं ।।७१।।

देव मंदिरों के समान गुरु मंदिर, समाधि, स्मारक आदि भी खड़े किये । पर वहाँ योग्य गुरु, अयोग्य गुरु का भेद भूला दिया गया ।[1]

आचार्यश्री कहते हैं कि व्याख्यान में महिलाएं उन साधुओं का गुणगान करती है ।

केवलथीणं पुरओ वक्खाणं पुरिसअग्गओ अज्जा ।
कुव्वंति जत्थ मेरा नडपेडकसंनिहा जाण ।।७२।।

जिस गच्छ में साधु, केवल स्त्रियों के सामने व्याख्यान करते हैं[2] और साध्वियाँ, केवल पुरुषों को संबोधन करती है ।[3] उन साधुओं को अमेरा (मर्यादा रहित) नटों की टोली के समान जानना चाहिए ।।७२।।

पतन का यह प्रमुख कारण है । स्त्री, पुरुषों के अधिक सम्पर्क का परिणाम कभी भी अच्छा नहीं हो सकता । इससे चारित्रिक पतन होता ही है ।

1. धर्मस्थान बनाने का उपदेश तो खुले रूप में होने लग गया है। उसके लिए साधु टीप मंडवाने भी लग गये है। यह प्रथा तो किसी न किसी रूप में चल ही रही है। महिलाएँ ही नहीं, पुरुष भी गाते हैं। कभी-कभी तो ऐसे गुणगान व्याख्यान का बहुतसा समय रोक लेते हैं। यह खटकता है। यद्यपि गुणगान करना बुरा नहीं है, बुरा है स्त्रियों, बच्चियों के द्वारा गुणगान करवाना एवं साधुओं का उससे कृतकृत्यता मानकर फूलना। फिर भी इस प्रथा में संशोधन तो होना चाहिए।
2. वर्तमान में बच्चीओं की शिबिर में साधुओं का प्रवचन प्रारंभ हो गया है साध्वियाँ छोटे वच्चों की शिबिर लगाने लगी है, परिणाम खराब ही आयगा।
3. यहां पर भी साध्वियों को केवल पुरुषों की सभा में व्याख्यान का निषेध है। प्रबुद्ध वर्ग चिंतन करे।

स्त्रीराज्य

कय सिंगारा अज्जा सभासु पुरओट्ठिया कयकडक्खा ।
अहवा भोयणवेलासु इत्थीरज्जं तं गच्छं ।।७३।।

शृंगार की हुई और कटाक्ष करने वाली साध्वियाँ, साधुओं की सभा में आगे बैठती है, अथवा भोजन के समय आगे बैठती है । वह स्त्रीराज्य है, किन्तु गच्छ नहीं है ।।७३।।

शृंगार की भावना ही विकार युक्त है । केवल रंगीन वस्त्र, आभूषण और पुष्पादि धारण ही शृंगार नहीं है, केशों का ढंग से रखना, वस्त्रों को उज्ज्वल रखना, आँखों में अकारण काजल या सुरमा लगाना और अंगों को धोकर निर्मल बनाते रहना भी शृंगार है । स्थानांग ठा. ४-४-३७४ में केश और वस्त्र को भी अलंकार माना है। आगमकार तो कहते हैं कि—

विभुसावत्तियं भिक्खू, कम्मंबंधई चिक्कणं ।
संसारसायरे घोरे, जेणं पडइ दुरुत्तरे ।।६६।। (दशवै० ६)

किन्तु इस ओर उनका ध्यान नहीं है । शोभित रहने की रुचि से वे आगम की विराधना करते हुए भी नहीं रुकते । कटाक्ष और स्त्रीराज के प्रसंग की पुनरावृत्ति भी कहीं कहीं देखने में आयी है। साध्वियाँ साधुओं के भोजन के समय उपस्थित रहने की प्रथा तेरापंथ में तो है । साध्वियों का साधुओं के साथ अधिक सम्पर्क और एकान्त में मिलने आदि की प्रवृत्ति कई स्थानों पर दिखाई दी और इसके दुष्परिणाम की घटनाएं भी समाज के सामने आयी । अत एव इस

बुरी प्रथा को सर्वथा नष्ट करना अत्यावश्यक है ।[1]

अधर्मी

इइ बहुहा सावज्जं जिणपडिकुट्ठं च गरहियं लोए ।
जे सेवंति कुमग्गं करंति कारंति निद्धम्मा ।।७४।।

इस प्रकार लोक में बहुत से ऐसे सावद्य आचरणों एवं जिनेन्द्र द्वारा निषिद्ध तथा निन्द्य कार्य रूप कुमार्ग का जो साधु स्वयं सेवन करते हैं और दूसरों से सेवन करवाते हैं, वे अधर्मी हैं ।।७४।।

सावद्य आचरण करने वाले एवं जिनेश्वर की आज्ञा का भंग करने वाले कुमार्गी साधु तो अधर्मी ही हैं । उन अधर्मियों को वंदनादि करना अधर्म का समर्थन एवं धर्म का खंडन करना है ।

धर्म-घातक को नमस्कार कैसा?

इहपरलोयहयाणं सासणजसघाईणं कुदिट्ठीणं ।
कह जिणदंसणमेसिं को वेसो किं च नमणाइ ।।७५।।

इस लोक और परलोक का हनन करने वाले और जिनशासन की कीर्ति को नष्ट करने वाले उन कुदृष्टियों (मिथ्यादृष्टियों) में जैनदर्शन है ही कहाँ ? उनके साधु वेश का महत्त्व भी क्या है और उनको वंदना नमस्कार करने का फल ही क्या है ? ।।७५।।

उन मिथ्यादृष्टि वेशधारी, जिनधर्म के विध्वंशकों का यह

1. इस अनिष्ट से बचने के लिए एक आचार प्रिय महान् आचार्य भगवंत ने कह दिया था कि मेरी निश्रा में कोई साध्वियाँ नहीं है। आजकल बहुत से साधु-साध्वी, साबुन और अन्य साधनों से कपड़ो को स्वच्छ, उज्ज्वल और सुंदर रखते हैं। शरीर और अंगों को भी धोकर चिकने व शोभित रखते हैं। उनकी यही प्रवृत्ति मर्यादा के विरुद्ध है।

   केशों की स्टाईल रखकर व्याख्यान की पाट पर बैठनेवाली साध्वियाँ तो आज भी विकार भाव का पोषण करती, करवाती है।

मनुष्य भव भी बिगड़ जाता है । वे अपनी दुर्गति से प्रेरित होकर धर्मघातक बन जाते हैं और बजाय आराधना के विराधना में लगकर पाप की गठरी बांध लेते हैं । जो मनुष्य भव, आराधना की बहुमूल्य कमाई करने का साधन बन सकता था, उसीको वे पाप की कमाई करके बिगाड़ देते हैं, व्यर्थ ही गंवा देते हैं । इस पाप के फलस्वरूप उनका परभव भी बिगड़ जाता है । ऐसे पाखण्डीलोग, नाम से तो जैनी साधु कहलाते हैं, किन्तु उनके काम धर्म-घातक के से होते हैं। उनका साधुवेश, धोखा देने का साधन बन जाता है । वेश के द्वारा वे भोले व अनजान उपासकों को भुलावे में डालकर उनकी गांठ से जिनधर्म रूपी धन का हरण कर लेते हैं ।

आचार्य श्रीमद् हरिभद्रसूरिजी लिखते हैं कि ऐसे धर्म-घातकों धर्मचोरों के वेश का महत्त्व ही क्या है और उनको नमस्कार करने का फल ही क्या है ?

क्या डाकू और लुटेरे को नमस्कार करने से कभी पुण्य हुआ है ?

वास्तव में धर्म-घातक को नमस्कार करना, आदर सत्कार करना पाप है । उसकी धर्मघातकता का अनुमोदन है, उसे जिनधर्म का द्रोह करने का प्रोत्साहन देना है ।

जब साधु के साथ उपासक का संबंध, केवल धर्म के माध्यम से ही है, तो धर्म-घातक को उपासकगण, आदर सत्कार देते ही क्यों है ? यदि उनकी ओर से प्रोत्साहन नहीं मिलकर विरोध मिले या उपेक्षा ही हो, तो लिंगधारी की बुद्धि ठिकाने आ जाय या फिर वह वेश विडम्बना छोड़कर भाग जाय । किन्तु उपासकवर्ग की अनभिज्ञता ही उनका सहारा बनकर धर्म

का ह्रास करवा रही है ।

बाला वयंति एवं वेसो तित्थंकराण एसो वि ।
नमणिज्जो धिद्धी अहो सिरसूलं करस्स पुक्करिमो ॥७६॥

वे अज्ञानी कहते हैं कि तीर्थंकरों का यह (साधु) वेश ही वंदनीय है । इस प्रकार बोलने वाले को धिक्कार है । उनके ये वचन मस्तक में शूल की तरह पीड़ा करने वाले हैं । इस दुःख की पुकार कहाँ किस के आगे करें ? ।।७६।।

वेश की अवंदनीयता

जिनमें चारित्र का गुण नहीं होता, वे वेश की ओट में अपना गुजर चलाते रहते हैं और दुराचरण करते रहते हैं । वे भोले जीवों को भरमाते हैं और कहते हैं कि छद्मस्थों के लिए वेश ही प्रमाणभूत है । किस के मन में क्या है, यह कौन जानता है ? धर्म का संबंध आत्मा से है और आत्मा किसी को दिखाई नहीं देती । वेश ही सर्वत्र जाना जाता है । उपासकों को धर्म सुनने और प्रेरणा लेने से मतलब है, हमारे चारित्र से नहीं । हम तीर्थंकर भगवान् का वेश धारण करके उनके धर्म को चला रहे हैं। हमारे धर्म प्रचार और परोपकार का कार्य, कम नहीं है । जिस प्रकार सरकार का दिया हुआ वेश पहिनकर कोई अछूत भी आ जाय, तो उसकी आज्ञा माननी होती है । उस समय यह नहीं देखा जाता कि यह सरकारी नौकर कैसा व किस जाति का है ? इसी प्रकार हमारे वेश को ही देखकर आदर सत्कार देने की जरूरत है, चारित्र देखने की जरूरत नहीं है ।[1]

1. सरकारी नौकर भी अपने वेश के विपरीत आचरण करते पकड़ा जाता है तो सरकार उसे नौकरी से निकाल देती है, उसका अधिकार छीन लिया जाता है, वैसे ही ऐसे वेश विडंबको का वेश छिन लिया जाना चाहिए।

उनका उपरोक्त कथन स्वीकार करने योग्य नहीं है । क्योंकि मुनिलिंग के धारण करने का अधिकार उन्हीं पवित्रात्माओं को है, जो चारित्र के गुण से सम्पन्न हों, अपनी प्रतिज्ञा का पालन करते हों, दुराचार से दूर हों । जिनमें चारित्र का गुण नहीं, उन्हें वैसा सत्कार पाने का अधिकार ही नहीं है । जिस प्रकार साहुकारी का ढोंग करके चोरी करने वाला व्यक्ति, दण्ड का पात्र है और पुलिस के परिधान में रहकर चोरी करने कराने वाले को कारावास का कठोर दण्ड मिलता है, उसी प्रकार साधुता का स्वांग सजकर दुराचार का सेवन करने वाला भी जिनधर्म एवं जनता का अपराधी है । वह धर्म चोर है । उसका सन्मान नहीं तिरस्कार होना चाहिए ।

पूर्वकाल के आचार विहीन साधुओं में मिथ्यात्व का इतना जोर नहीं था, किन्तु वर्त्तमान काल तो ऐसा निकृष्ट है कि इसमें दुराचार भी चल रहा है और जिनधर्म विरोधी प्रचार भी भगवान् के वेशधारी खुले आम कर रहे हैं । उनके दुःसाहस की तो भूतकाल में कोई ज़ोड़ी ही नहीं मिलती। ये वंश के कुल्हाड़े से धर्म की जड़ को काटकर उस भूमि पर अपना मिथ्यामत रोप रहे हैं और अज्ञानग्रस्त जनता वेश-पूजक बनकर उन वेशविडम्बकों से अपने धर्म का उच्छेद करवा रही है। कितनी अंधेरगर्दी चल रही है-अभी ।

आचार्य श्री हरिभद्रसूरिजी कहते हैं-ऐसे वेश लजाने वालों को धिक्कार है । इनके ऐसे कुवचन सुनकर मस्तक में शूल उठने की तरह पीड़ा होती है । निर्ग्रंथ प्रवचन के प्रेमियों को ऐसे कुकृत्य देखकर पीड़ा होती है । यह उनकी धर्म प्रियता है ।

पट्टा किसे बतावें

श्री हरिभद्रसूरिजी निरुपाय होकर कहते हैं कि-इन वेशविडम्बक कुगुरुओं के दुराचार के निवारण का क्या उपाय करें ?[1] किसके सामने पुकार करें ? कौन सुनने वाला है यहाँ ? बिलकुल ठीक है । कोई भी सुनने वाला नहीं । रक्षक कहलाने वाले तो मात्र खेत में खड़े किये गये निर्जीव रखवारे के समान हैं । उनके कान और आँख, अपनी स्थिति संहाले रखने के काम में आते हैं । उनकी शक्ति वेश विडम्बकों की रक्षक बन जाती है । वे अपना उत्तरदायित्व पदरक्षा एवं समूहरक्षा में ही मानते हैं । धर्मरक्षा, उत्तम परंपरा के निर्वाह के उत्तरदायित्व से तो उन्होंने आँखें ही मूंद ली है । यह दशा बतलाती है कि उनके मन में धर्म का आदर नहीं रहा । उनकी सत्वहीनता को विकारी तत्त्व भाँप गया । उसने देख लिया-यह सुहाग कंकण तो हमारी ढाल का काम दे रहा है । इसकी छत्रछाया में हम बेधड़क मनमानी मौज कर सकते हैं । ऐसी स्थिति में धर्म का पट्टा किसे बताया जाय ? किसके सामने फरियाद की जाय ? इस पोलंपोल में सुनने वाला ही कौन है ?

कुछ आगमज्ञ उपासक-जिनमें शुद्ध श्रद्धा का अस्तित्व है, इस दुःखद स्थिति को जानते हैं, समझते हैं । उनके मन में इसका खटका भी है, किन्तु वे भी निरुपाय हैं। इनमें से कुछ तो ऐसे भी हैं कि वे जानते बुझते हुए भी साहस का सर्वथा अभाव होने से वेशविडम्बकों के चरणों में भी अपनी भक्ति अर्पित करते रहते हैं । उनका विरोध तो दूर रहा, उपेक्षा भी नहीं कर सकते ।

1. श्री हरिभद्रसूरिजी के समय का यह कथन है तो आज की तो स्थिति कितनी विकट है । आचारहीनता की बात कोई सुनने को तैयार नहीं है ।

उनके व्यवहार से तो ऐसा लगता है कि वे धर्म-पोषक संतों और धर्म-शोषक वेशविडम्बकों को एक समान मानते हैं। दोनों ओर समान भक्ति प्रदर्शित करने का तो यही अर्थ है।

कुगुरुओं का झूठा बचाव

ते लोयाणं पुरओ वयंति एवं खु किं करिस्सामो।
सामग्गी अभावाओ वक्कजडाणं पुणो कालो ॥७७॥
दूसमकाले दुलहो, विहिमग्गो तंमि चेव कीरंते।
यइ तित्थुच्छेओ तम्हा समए पवत्तव्वं ॥७८॥
पुव्वं पवयणभणिया विहिपुण्णा साहुसावगा कत्थ?।
जम्हा ते सिवगमणा संपइ मुक्खस्स विच्छेए ॥७९॥
धिइसंघयणबलाइ हाणी इह जिणवरेहिं निद्दिट्ठा।
को भेओ सुहअसुहाण केसिंचिय कुग्गहो एसो ॥८०॥
बहुजणपवित्तिमित्तं लोयपवाहेण कज्जए धम्मो।
जइ निम्मलं मणं चिय तो सव्वत्थावि पुण्णफलं ॥८१॥

वे कुगुरु अपने बचाव में लोगों के सामने इस प्रकार कहते हैं कि-

हम क्या करें, इस काल में सामग्री का अभाव है और वक्रजड़ता व्याप रही है। इस दुषमकाल में विधिमार्ग (विधि के अनुसार चारित्र का पालन) दुर्लभ हो गया है। यदि विधिमार्ग का ही आग्रह किया जाय, तो धर्मतीर्थ का विच्छेद हो जायगा, इसलिए समय के अनुसार चलते हैं ॥७७-७८॥

पूर्व के महर्षियों के कहे हुए और आगमों में बताये अनुसार विधिमार्ग का पूर्ण रूप से पालन करने वाले साधु और श्रावक अभी कहां हैं ? पूर्वकाल में तो वे विधिमार्ग का पालन करके

मोक्ष प्राप्त करते थे, अब मोक्ष प्राप्त करना नहीं रहा-उसका विच्छेद हो गया, तो विधिमार्ग भी कहां रहा ? ।।७९।।

जिनेश्वर ने कहा है कि इस काल में संहनन, धैर्य और बल की हानि हो गयी है, ऐसी स्थिति में शुभ और अशुभ (शुद्धाचारी और शिथिलाचारी) का भेद रहा ही कहां? किसे चारित्र संपन्न और किसे चारित्र हीन कहा जाय ? निश्चय पूर्वक इस प्रकार का आग्रह कौन कर सकता है ? ।।८०।।

इसलिए बहुजन समुदाय ने जो प्रवृत्ति स्वीकार की, उसी लोक-प्रवाह (प्रवृत्ति) के अनुसार धर्म करना चाहिए। यदि अपना मन निर्मल है तो सभी स्थानों (वेशोपजीवियों और संयमियों) में पुण्यफल होता है ।।८१।।

अपना बचाव सभी करते हैं । झूठे के पास भी तर्क एवं युक्ति होती है । इस प्रकार का बचाव अब भी होता है । कई यह तर्क भी उपस्थित करते हैं कि—

हलवा मिले, तो वह खाना और हलवा नहीं मिले, तो रूखी-सूखी रोटी खाकर भी जीवन बचाना समझदारी है । यदि कोई दुराग्रही हठ पकड़कर बैठ जाय कि-मैं तो हलवा ही खाऊँगा, इससे कम-रूखी-सूखी रोटी कभी नहीं खाऊँगा, तो उस हठी को मरना ही पड़ेगा । प्राण बचाने के लिए शुद्ध जल नहीं मिले, तो गंदा पानी पीकर ही जीवन बचाना पड़ता है । इसी प्रकार अभी शुद्धाचारी साधु नहीं मिले, तो जैसे साधु हों, उन्हीं की उपासना करके धर्म आराधना करनी चाहिए । यदि इनका भी अवलम्बन छोड़ दिया, तो धर्म से ही हाथ धोना पड़ेगा । इस प्रकार की कई कुयुक्तियाँ उपस्थित की जाती है । इसके उत्तर में आचार्यश्री कहते हैं कि-

एयारिस दुव्वयणं भासंता अप्पणो पमायंता ।
बुडुंति भवसमुद्दे बुड्डावंता परेसिं पि ॥८२॥

इस प्रकार के दुर्वचन बोलने वाले वे वेशधारी, स्वयं प्रमाद में पड़े हुए हैं । वे खुद भवसागर में डूबते हैं और दूसरों को भी डुबाते हैं ।।८२।।

आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी उन कुगुरुओं के उपरोक्त बचाव को अस्वीकार करते हुए उन्हें मिथ्याभाषी=दुर्वचन बोलने वाले व प्रमादग्रस्त बतलाते हैं । यह ठीक है । यद्यपि वर्त्तमान समय में मनुष्यों की मनोवृत्ति ऋजु-प्राज्ञ नहीं है, वक्र-जड़ है । काल भी मोक्ष प्राप्ति के योग्य नहीं है, संहननादि भी वैसे नहीं रहे, परिहार विशुद्धादि चारित्र का भी अभाव है ।

तथापि संयम साधना हो सकती है। साक्षात् मोक्ष नहीं हो सकता, तो संयम की ठीक साधना करके एक भवावतारी तो बना जा सकता है । सामायिक और छेदोपस्थापनीय चारित्र का भावपूर्वक पालन तो हो सकता है । मिथ्यात्व और अविरति से बचा जा सकता है । प्रमाद से भी बहुत कुछ छुटा जा सकता है । यदि इस समय के अनुसार सामायिक छेदोपस्थापनीय चारित्र का पालन नहीं करे, महाव्रत, समिति, गुप्ति और समाचारी के प्रति उपेक्षा करता रहे, तो वह असंयमी है । वह पंचमकाल और संहननादि की युक्ति उपस्थित करके अपने असंयम का बचाव करना चाहता है । उसका बचाव झूठा है । वह उस चालाक चोर के समान है, जो न्यायालय के सामने अपने बचाव में कहता है कि-"मैं ही क्या, सारा जमाना ही चोर है। आप भी चोर हैं । आप आज पांच मिनट देर से आये, यह भी चोरी है ।"

काल का प्रभाव सभी पर पड़ता है । उसके प्रभाव से एक

भी मनुष्य नहीं बच सकता । पंचमकाल का प्रभाव इसमें जन्मे हुए सभी व्यक्तियों पर पड़ा है । आज परिहारविशुद्धादि चारित्र वाले या भिक्षुप्रतिमा तथा जिनकल्प धारण करने वाला एक भी मुनि नहीं मिल सकता । यह इस काल का और इसमें उत्पन्न मनुष्यों के लिए वैसी सामग्री के अभाव का दोष है । इसका उदाहरण वेशधारियों का बचाव नहीं कर सकता । क्योंकि थोड़े रूप में भी सुसाधुओं का अस्तित्व है । वे चारित्र का निष्ठापूर्वक पालन करते हैं, दोषों से बचने में तत्पर रहते हैं । उन महात्माओं पर तो काल का प्रभाव नहीं पड़ा और सारा प्रभाव उन कुशीलियों पर ही पड़ गया! अत एव कुशीलियों का उपरोक्त बचाव मिथ्या और दुर्वचन रूप है ।

यह ठीक है कि इस समय अकषायी, यथाख्यात चारित्री जैसे परमोत्तम महर्षि नहीं मिलते, किन्तु संज्वलन में रहे हुए प्रमत्त संयत तो मिलते हैं । हलवा न सही, रोटी दाल ही सही । जब रोटी दाल अच्छी मिलती है, तो उसें छोड़कर पत्तलों की झूठन खाने वाला कौन होगा ?

वेशधारी लोग अपना कुशील तो नहीं छोड़ें, किन्तु उपासकों से, शुद्धाचारी श्रमण जैसा आदर सत्कार पाने की आशा रखे, तो यह भी उनकी ज्यादती है । वस्तु का मूल्य उसके गुण के अनुसार ही मिलता है । नकली वस्तु देकर असली जैसी कीमत कैसे मिल सकती है ? वह तो ठगाई है, धोखाधड़ी है, बेईमानी है । अत एव आचार्यश्री ने कुगुरुओं की युक्तियों को 'दुर्वचन' कहा, वह ठीक ही है ।

पवयणनामग्गाहं वक्खाणे जो करेइ विगहाइ ।
कामत्थहासविहियकारी किर मुद्धबालाणं ॥८३॥

बज्झब्भंतरगंठिं धरइ सया भासइ पुण जणाणं ।
दूसमदोसेण जओ समणाणं दुल्लहसामग्गी ।।८४।।

वे प्रवचन के नाम पर अपने व्याख्यान में कामोद्दीपक अथवा काम संबंधी विषय वाली, हास्यजनक और विस्मय कारक विकथा करके भोले व अनजान लोगों का मनोरंजन करते हैं और सदैव बाह्य ग्रंथी (परिग्रह) और आभ्यंतर ग्रंथी (मिथ्यात्व कषायादि) धारण करते हैं और लोगों से कहते हैं कि इस विषमकाल में साधुओं को शुद्ध संयम के योग्य सामग्री मिलनी दुर्लभ हो गयी है ।।८३-८४।।

धर्मोपदेश के नाम पर विकथा पहले भी बहुत हुई । काम शास्त्र पर व्याख्यान हुए । नर्तकियों के नृत्य, गान और नाटक भी हुए । कुछ ढ़ाल चोपाइयें भी ऐसी बनी कि जिसके सुनने से उपशम भाव के बनिस्बत मोह-भाव बढ़े । धर्मोपदेश में तत्त्वनिरूपण एवं शांत रस के प्रचार के बनिस्बत विकथा को विशेष स्थान मिला । आज भी विकथा का विशेष प्रसार है । देश कथा, राज कथा, सामाजिक कथा और मिथ्यात्व वर्द्धक कथा कई स्थानों पर होती रहती है । दर्शन विघातक और चारित्र विघातक कथाएँ भी होती है । जिस प्रकार उस समय स्वच्छंदता फैल गयी थी, उसी प्रकार अभी भी है । इस समय विशेषता यह है कि रक्षक पद धारियों में से ही ऐसे दर्शन-विघातक उत्पन्न हुए हैं जो जैन इतिहास में अद्वितीय होंगे । वे इस धर्म की बुनियाद को ही गलत बताने की धृष्टता कर रहे हैं । जैनधर्म जिसे दुराचार मानता है, उसे वे सदाचार मानते मनवाते हैं । जैसे माईक, मोबाईल, लेपटोप, लाईट, लैट्रिन, मजदूर,

साईकल, डोली, व्हीलचेर, मोटर आदि दूराचार है, उसे सदाचार मनवाया जा रहा है । यथाच्छंदत्व पनपने में यह युग भी भूतकाल से बाजी मार रहा है ।

आचार्य की शुद्धता

जइ कहमवि जत्थ गणे
भिक्खुजणा संजमे कुसीला य ।
जइ सूरि सुद्धधम्मस्सट्ठिओ
हविज्ज त्थ सो गच्छो ।।८५।।

यदि किसी गच्छ में साधु संयम में कुशील हो गये हों, किन्तु आचार्य शुद्ध धर्म में स्थिर रहे हों, तो वैसे गच्छ को गच्छ कहना चाहिए ।।८५।।

ऐसा गच्छ भी तभी सुगच्छ हो सकता है, जब कि आचार्य कुशीलियों को सुशील संपन्न बनाने में तत्पर हों और निराश होने पर कुशीलियों को छोड़कर गर्गाचार्य की तरह पृथक् हो सकते हों । अन्यथा कुशीलियों के साथ उनका रहना, न तो उचित है, न शांतिप्रद ही। उल्टा कुशीलियों के लिए वे रक्षक बन जाते हैं । और उनके साथ उपासकगण भी कुशीलियों को आदर देकर दुराचार को प्रोत्साहन देते हैं ।

चाण्डाल की तरह त्याज्य

संजमहीणा मुणिणो जत्थ गणे हुंति सो वि मुत्तव्वो ।
जइ सूरि कुमग्गपरो सोवागकुलुव्व भव्वेहिं ।।८६।।
निम्मलजलसंपुण्णो सोवागंधुव्व गरहणिज्जो सो
तिविहेण तस्स संगो वज्जेयव्वो सुसाहूहिं ।।८७।।

जिस गच्छ में साधु भी संयम हीन दुराचारी हों और आचार्य भी कुमार्ग-गामी हों, तो ऐसे गच्छ को श्वपाक/चाण्डाल कुल की तरह त्याग देना चाहिए ।।८६।।

जिस प्रकार चाण्डालों के बास-मुहल्ले में रहा हुआ निर्मल जल का कुण्ड तजनीय होता है, उसी प्रकार संयमहीन गच्छ भी त्याज्य होता है । सुसाधुओं को ऐसे गच्छ की संगति, मन, वचन और काया ऐसे तीनों योग से त्याग दैनी चाहिए ।।८७।।

जिस प्रकार प्राण रहित शरीर व्यर्थ है। उसे वस्त्राभूषण से सजा कर रखने से कोई लाभ नहीं है । उल्टा दुर्गन्ध और बीमारी फैलने का भय रहता है, उसी प्रकार संयम रहित वेशधारियों के समूह से भी कोई लाभ नहीं है । उनके संसर्ग से चरित्र हीनता फैलती है। पवित्र धर्म निंदित बनता है और उपासकों की धर्म पर से श्रद्धा उठ जाती है । इसलिए आगम आज्ञा का पालन करने के लिए, शुद्ध साधुता की परंपरा बचाने के लिए और उपासकों को सन्मार्ग पर स्थिर रखने के लिए, कुशीलियों का संसर्ग त्यागना ही चाहिए । आचार्यश्री ने संयमहीन कुशीलियों का संग त्याग करने का जो विधान किया है, वह आगमों से सर्वथा अनुकूल है । सूयगडांग सूत्र श्रु० १ अ० ९ गाथा २८ में कहा है कि—

अकुसीले सया भिक्खू, णेव संसग्गियं भए ।
सुहरूवा तत्थुवसग्गा, पडिबुज्झेज्ज ते विउ ।।

अर्थात् - साधु, सदैव अकुशील-शुद्धाचारी रहे और कुशीलियों की संगति भी नहीं करे । क्योंकि कुशीलियों की संगति से संयम में सुख भोग की कामना रूप उपसर्ग रहता है । इस बात को विद्वान्

मुनि समझे ।।

स्थानांग सूत्र स्थान ५ और ९ में संयम में दोष लगाने वाले, दोष लगने पर शुद्धि नहीं करने वाले, मर्यादा का उल्लंघन करने वाले, आचार्यादि के विरोधी, संघ विरोधी, ज्ञान, दर्शन और चारित्र के प्रतिकूल आचरण करने वाले का संभोग त्याग देने का विधान है ।

निशीथ उ० १३ सूत्र ४६ इस प्रकार है।

जे भिक्खू पासत्थं वंदइ, वंदंतं वा साइज्जइ ।।४६।।

जे भिक्खू पासत्थं पसंसइ, पसंसंतं वा साइज्जइ ।।४७।।

अर्थात् - जो भिक्षु, पार्श्वस्थ (=ज्ञान, दर्शन, चारित्र के पास रहकर भी उनका पालन नहीं करने वाला) को वंदना करे और वंदना करने वाले को अच्छा जाने, जो पार्श्वस्थ की प्रशंसा करे और प्रशंसा करने वाले को अच्छा जाने, तो वह प्रायश्चित्त का पात्र होता है ।

उपरोक्त पाठ के बाद कुशील, अवसन्न, संसक्त, नैत्यिक, काथिक (कथावाचक) पासणिय (मनोरम दृश्य देखने वाला) ममत्वी और सम्प्रसारिक (मिथ्यात्व या असंयम का प्रचार करने वाला) के विषय में भी वैसे ही दो दो सूत्र (सूत्र ६३ तक) दिये गये हैं। इन सबको वंदना करने, इनकी प्रशंसा करने को प्रायश्चित्त योग्य बतलाया है ।

निशीथ उ० १५ सूत्र ७७ से ८६ तक पासत्थादि को आहारादि देने और उनसे लेने को प्रायश्चित्त योग्य बताया है ।

इस प्रकार असंयमियों की संगति का त्याग करने का आगमिक विधान है । उत्तराध्ययन सूत्र अ० १७ गाथा २० में स्पष्ट लिखा है कि-

एयारिसे पंचकुसीलसंवुड़े, रूवंधरे मुणिपवराण हेट्ठिमे ।
अयंसि लोए विसमेव गरहिए, न से इहं नेव परत्थलोए ।।

अर्थात् - ये पांच प्रकार के कुशीलिये साधु, संयम से शून्य किन्तु संयमियों का वेश धारण करने वाले हैं, ये उत्तम मुनियों के बराबर नहीं, किन्तु उनसे नीचे हैं, निम्न स्थान पर हैं । अधम हैं । वे वंदना करने के योग्य तो हैं ही नहीं, किन्तु इस लोक में विष की तरह त्याज्य हैं । उनका यह लोक भी बिगड़ता है और परलोक भी बिगड़ता है ।

इस प्रकार असंयमियों की संगति का त्याग करने का आगमिक विधान है । जो सुसाधु वैसे कुशीलियों से पृथक् रहकर अपनी मर्यादा का निर्वाह करते हैं, तो वे लोग अप्रसन्न होकर उन सुसाधुओं की निंदा करते हैं और अनजान लोगों को बहकाने के लिए प्रचार करते हैं कि-

'ये घमंड़ी, अपने आपको महात्मा और उत्कृष्टा बताकर हमारी निंदा करते हैं । ये सम्प्रदायवादी हैं, पदलोलुप हैं, दंभी हैं । इन्हें गद्दी का मोह है । ये हमें अछूत मानते हैं । हमारे पास बैठने से इनका संयम बिगड़ जाता होगा ।'

इस प्रकार निंदा करके भ्रम फैलाते रहते हैं ।

आचार्य का भी त्याग

नियत्तणुसायनिमित्तं आहाकम्मं अणेसणिज्जं च ।
जो भुंजइ आयरिओ संजमकामीहिं मुत्तव्वो ॥८८॥

जो आचार्य अपने शरीर संबंधी सुख के लिए आधाकर्मी एवं अनैषणीय अग्राह्य आहार करता है, संयमप्रिय साधु को चाहिए कि उस अनाचारी आचार्य का त्याग कर के पृथक् हो

जाय ।।८८।।

आचार्य श्री तीर्थंकर भगवान् के वंशज हैं, पट्टाधिकारी धर्मराज हैं, धार्मिक शासन के शासक है, धर्मरथ के सारथी है । जिनधर्म का सर्वोपरि नेता, संचालक, रक्षक और पोषक होता है । यदि ऐसी सर्वोच्च सत्ता ही अनाचारी बन जाय, तो शेष रहे ही क्या ? और उस संघ का उत्थान हो ही कैसे ? कायर, अशक्त और दुर्बल नायक के अधिपत्य में संघ की उन्नति नहीं, पतन होता है । दुराचार फैलता है ।

जिस सेना का सेनापति ढीला हो, निर्बल हो, स्वयं अपने पद के गौरव का निर्वाह नहीं कर सकता हो, उनकी सेना भी निर्बल, सुखशील और अनुशासन हीन होती है । वह न अपनी रक्षा कर सकती है, न अपना दायित्व निभा सकती है और न विजय की ओर आगे कदम बढ़ा सकती है । उसका एक मात्र काम सफलता पूर्वक पीछे हट करना होता है । हां, वह बातों के बड़े बनाकर जनता को भुलावा दे सकता है ।

योग्य सेनापति, कायर और अनुशासन हीन सैनिकों की छटनी करता है, योग्य सैनिकों को प्रोत्साहन देकर साहस बढ़ाता है और शक्ति बढ़ाकर विजयी होता है । इसी प्रकार पंचाचार का दृढ़ता पूर्वक पालन करने वाले आचार्य, संघ को शक्तिशाली बनाते हैं ।

दुराचारियों को कूड़े कचरे की तरह बाहर निकाल फैंकते हैं और संयमशील साधुओं को अनुशासन बद्ध कर के धर्म की ज्योत जगाते हैं ।

आचार्यश्री कहते हैं कि अयोग्य, अनाचारी एवं सत्वहीन

आचार्य की अधीनता में संयमप्रिय साधुओं को नहीं रहना चाहिए । उनका त्यागकर पृथक् होकर अपने संयम की आराधना करनी चाहिए । ऐसा वही कर सकता है, जिसमें आचारप्रियता हो, संस्कृति की उच्चता बनाये रखने की भावना विकसित हो और आत्मबल हो ।

जत्थ य अज्जासंगी आयरिओ सव्वदव्वसंगहिओ ।
उम्मग्गपक्खकरणो अणज्जमिच्छव्व मुत्तव्वो ।।८९।।

अर्थात् - जिस गच्छ का आचार्य साध्वियों का संग-विशेष परिचय (अधिक सम्पर्क) रखता हो, सभी प्रकार के द्रव्य का संग्रह करने वाला हो और उन्मार्ग का पक्ष करने वाला हो, तो ऐसे आचार्य को और उसके गच्छ को अनार्य-मिथ्या (अज्ञानी दुष्ट) की तरह त्याग देना चाहिए ।।८९।।

साध्वियों से विशेष सम्पर्क रखने वाले आचार्य में यदि लोकलाज भी शेष हो, तो वे या तो ऐसे संसर्ग का त्याग ही कर देते हैं या अपनी अयोग्यता का विचार कर उस पद से ही पृथक् हो जाते हैं । जो आचार्य स्वयं स्त्रियों से विशेष सम्पर्क रखता है, तो उसके अंतेवासियों में संयम, त्याग और ब्रह्मचर्य का पालन कैसे हो सकता है ? कोई वृद्ध रोगी या कोई धर्म प्रिय बचकर रहे, तो भले ही, शेष सदस्य तो निःशंक असंयमी हो जाते हैं ।

संग्रह खोर आचार्य ।

जो आचार्य स्वयं संग्रह खोर हो, अनावश्यक उपधि बढ़ाता रहता हो, अर्थ संग्रह रखता हो, तो वह स्वयं आचारनिष्ठ नहीं रहता और परिग्रही बन जाता है । जब वह अपने 'सर्वथा परिग्रह त्याग' महाव्रत का पालन नहीं कर सकता, तो वह आचारहीन आचार भ्रष्ट बन जाता है । वह चारित्राचार का

पालक नहीं होता । *जो पांच आचार में से किसी एक भी आचार का ठीक तरह से पालन नहीं करता, वह आचार्य पद पर रहने के योग्य नहीं है ।*

अर्थ संग्रह की एक पद्धति साधुओं में यह भी चल पड़ी है कि वे स्वयं तो रुपया पैसा नहीं लेते, किन्तु संस्थाओं के लिए संग्रह करते कराते हैं । तीर्थ निमार्ण, मंदिर निमार्ण स्थानक, उपाश्रय, स्मारक, पुस्तकालय, विद्यालय, औषधालय, पुस्तक प्रकाशन, अन्नदान आदि कार्यों के लिए द्रव्य का संग्रह करते कराते हैं । कई साधु तो खुद ऐसे अर्थ संग्रह के सावद्य कार्यों की योजना बनाते और क्रियात्मक रूप देते हैं और कई गृहस्थों के प्रभाव में आकर करते हैं । लोग, साधु के प्रभाव एवं विश्वास में आकर पैसा दे देते हैं, जब उसका परिणाम सामने आता है, तब वे कहते हैं कि-"हम तो जानते थे कि हमारे पैसे का सदुपयोग होगा । हमने तो श्री.....महाराज की बातों में आकर उन पर विश्वास करके रुपये दिये थे और यहाँ सब चौपट हो गया ।"

कहीं, कहीं उस पैसे में से कुछ द्रव्य साधु की इच्छानुसार खर्च होता है ।[1] कुछ भी हो, धन प्राप्त करना, कराना और उसका अनुमोदन करना, भगवान् महावीर के निर्ग्रंथ साधु के लिए अधर्म है, उसके परिग्रह, त्याग, महाव्रत के विरुद्ध है, भले ही वह किसी भी कार्य के लिए हो ।

जब एक सामान्य साधु और श्रमण भूत श्रावक भी द्रव्य संग्रह करने कराने का त्यागी होता है, तब संघनायक आचार्य स्वयं अर्थ संग्रह करे, करावे, उसके आय-व्यय का हिसाब देखे, व्यवस्था में प्रेरक, विधायक और निरीक्षक बनें, धन में गड़बड़ी

1. ढोलियों को रुपये दिलवाये और उन रुपयों से उनके साथ रहे मजुरों ने सिनेमा देखा ।

होने पर चिंताग्रस्त बने,[1] गृहस्थों से सावद्य प्रवृत्ति करावे, तो वह अपने धर्म और पद की मर्यादा नष्ट करने वाला होता ही है ।

ऐसे आचार्य तभी होते हैं, जब संघ के दुर्भाग्य का उदय होता है ।

उन्मार्ग पक्षी आचार्य

उन्मार्ग का पक्ष करने वाले आचार्य को तो धर्म-द्रोही ही कहना चाहिए । जो व्यक्ति या संस्था उन्मार्ग की प्ररूपणा, प्रचार और प्रसार करे, वे दर्शन एवं चारित्र के विघातक हैं । भले ही वे स्वयं वैसा प्रचार नहीं करते हो, किन्तु उन्मार्ग प्रचारक का पक्ष भी करते हों, उसे अपने संघ, गच्छ या सम्प्रदाय में सम्मिलित रखते हों, उसके साथ संभोग रखते हों, उसके द्वारा किये जाते हुए उन्मार्ग के प्रचार को नहीं रोकते हों, *तो वे सत्वहीन कठपूतली आचार्य,* एक क्षण के लिए भी उस लोकोत्तर पद पर रहने के योग्य नहीं है । यह उनकी धृष्टता है कि वे अयोग्य होते हुए भी उस पवित्र पद पर बने रहें और उस पतन को देखते रहें । वह कैसा रक्षक है कि जिसके अधीनस्थ लोग ही चोरियाँ करते रहे और वह हाथ में डंडा लिए खड़ा-खड़ा देखता रहे ? यदि वह अपने पद से चिपका रहे, तो अधीनस्थ धर्मप्रिय आत्मा को चाहिए कि ऐसे कठपूतली एवं पवित्र पद के गौरव को नष्ट करने वाले नेता की छाया का भी त्याग कर दे ।

आचार्यश्री कहते हैं कि उस पाप पक्षी उन्मार्ग का पक्ष करने वाले आचार्य का इस प्रकार त्याग कर देना चाहिए, जिस प्रकार

1. एक मुनि के एक व्यक्ति में ६० हजार रुपये थे । व्यक्ति गुजर गया, पुत्रों ने अंगुठा बता दिया ।

सज्जन व्यक्ति दुष्ट प्रकृति वाले अनार्य का त्याग करते हैं। कहा है कि-मर्द की गर्द में रहना, किन्तु उस आचार्य की छाया में भी नहीं रहना। ऐसा वही आत्मा कर सकती है, जिसमें धर्म प्रियता के साथ आत्मबल भी हो। कायर व्यक्ति ऐसा नहीं कर सकता।

आचार्य भगवंत, गण की पूर्ण व्यवस्था और सार-संभाल रखते हैं। संघ के रक्षक हैं। यदि संघ-साधु साध्वी उनकी आज्ञानुसार नहीं चले, अविनीत, असंयमी और उद्दंड बन जाय, तो आचार्य उन्हें छोड़कर अलग भी हो जाते हैं (ठाणांग ५-२) उनके सिर पर संघ की पूर्ण जवाबदारी है। संघ में ज्ञान, दर्शन और चारित्र की वृद्धि होती है, उत्थान होता है तो उससे आचार्य की शोभा है। यदि संघ में ज्ञान, दर्शन और चारित्र की हीनता हो, शिथिलाचार और स्वच्छन्दता बढ़ती हो, मर्यादा का भंग बेरोकटोक होता हो, तो उस आचार्य की शोभा नहीं, किन्तु अपकीर्ति है। उनके प्रभाव में खामी है। 'गच्छाचार पयन्ना' में कहा है कि-

जीहाए विलिंहितो, न भद्दओ सारणा जहिं नत्थि।
डंडेणवि ताडंतो, स भद्दओ सारणा जत्थ ।।१७।।

मुंह से मीठा बोलता हुआ जो आचार्य, गच्छ के आचार की रक्षा नहीं कर सकता वह अपने गच्छ का हितकर्त्ता नहीं, किन्तु अहितकर्त्ता है और जो आचार्य मीठा नहीं बोलता, किन्तु ताड़ना करता हुआ भी गच्छ के आचार की रक्षा करता है, वह आचार्य कल्याण रूप है-आनंद दायक है।

तित्थयरसमो सूरी, सम्मं जो जिणमयं पयासेइ।
आणं अइक्कमंतो सो, कापुरिसो न सप्पुरिसो ।।२७।।
भट्टायारो सूरी, भट्टायाराणुविक्खओ सूरी।

उम्मग्गठिओसूरी, तिन्निवि मग्गं पणासंति ।।२८।।

(गच्छाचार पइण्णा)

जो आचार्य, जिनेन्द्र के मार्ग का सम्यग् रूप से प्रचार करते हैं, वे तीर्थंकर के समान हैं, किन्तु जो आचार्य स्वयं जिनाज्ञा का पालन नहीं करते और दूसरों से नहीं करवाते, वे सत्पुरुषों की श्रेणी में नहीं होकर कापुरुष=कायर हैं । जिनेश्वर भगवान् के पवित्र मार्ग को दूषित करने वाले आचार्य तीन प्रकार के होते हैं। यथा

१. जो आचार्य स्वयं आचार भ्रष्ट है ।

२. जो भ्रष्टाचारियों का सुधार नहीं करके उपेक्षा करता है ।

३. जो उन्मार्ग का प्रचार और आचरण करता है ।

ये तीनों प्रकार के आचार्य, भगवान् के पवित्र धर्म को दूषित करते हैं ।

उम्मग्गठिओ इक्कोऽवि, नासए भव्वसत्त संघाए ।
तं मग्ग मणुसरंते, जह कुतारो नरो होइ ।।३०।।
उम्मग्ग संपट्ठिआण, साहूण गोयमा! णूणं ।
संसारो य अणंतो, होइ य सम्मग्गनासीणं ।।३१।।

जो आचार्य, जिनमार्ग का लोपकर उन्मार्ग में चलते हैं, वे निश्चय ही अनंत संसार परिभ्रमण करते हैं । जिस प्रकार तैरना नहीं जानने वाला नाविक अपने साथ बहुतों को ले डूबता है, उसी प्रकार उल्टे मार्ग पर चलने वाला नायक, अपने साथ बहुतों को उन्मार्ग गामी बना देता है ।

जो उ प्पमायदोसेणं, आलस्सेणं तहेव य ।
सीसवग्गं न चोएइ, तेण आणा विराहिआ ।।३९।।

जो आचार्य, आलस्य अथवा प्रमाद से या और किसी

कारण से, संयम से विपरीत जाते हुए अपने शिष्यादि को नहीं रोकते, वे तीर्थंकरों की आज्ञा के विराधक हैं ।

गच्छाचारपइन्ना में सूत्रकार महाराज फरमाते हैं कि-

उम्मग्गठिए सम्मग्गनासए जो उ सेवए सूरी ।
निअमेणं सो गोयम!, अप्पं पाडेइ संसारे ।।२९।।

जो आचार्य उन्मार्गगामी हैं और सम्यग्मार्ग का लोप कर रहे हैं, ऐसे आचार्य की सेवा करने वाले शिष्य भी संसार समुद्र में डूबते हैं ।

श्री स्थानांग सूत्र (५-२) में लिखा कि 'जो आचार्य, अपने शिष्यों पर नियंत्रण नहीं रख सकें, उनसे सदाचार का पालन नहीं करवा सकें तो उन्हें अपने पद का त्याग कर अलग हो जाना चाहिए ।'

आचार्य का काम मात्र उच्च पद पर आसिन होकर संघ का आदर पाने का ही नहीं है । उनका कर्त्तव्य ओर भी है ।

जो आचार्य खरे खोटे सभी को समान रखता है, यह योग्य नहीं कहा जा सकता ।

राजा या राज्याधिपति भी चोर, जार और बदमाश को दंड देता है, सज्जनों का आदर करता है, तभी उसका राज्य शांति पूर्वक चल सकता है, अन्यथा अनीति, चोरी, जारी और लूट मचती है । प्रजा दुःखी होती है और उस राज्य का पतन होता है, उसी प्रकार यदि आचार्य भी संयमी और आचार भ्रष्टों को योग्य शिक्षा नहीं देता, उल्टा उनका रक्षण व पोषण करता है, तो वह अपने संघ का अहित करता है, संघ का पतन करता है । वह

संयम, चारित्र, संस्कृति एवं उत्तम परंपरा का रक्षक नहीं, साधुता का पोषक नहीं, किन्तु असंयम, चारित्र-हीनता एवं विकृति का रक्षक है । ऐसे आचार्य का त्याग करना ही सुसाधुओं का कर्त्तव्य है ।

असंयमी गच्छ त्याज्य है

मूलगुणेहिं विमुक्कं विज्जाकलियं पि लद्धिसंलिद्धं ।
उत्तमकुले वि जायं निद्धाडिज्जइ तयं गच्छं ॥९०॥

– गच्छाचार पयन्ना ८७ गाथा

जो गच्छ विद्या संपन्न हो, लब्धियुक्त हो और उत्तम कुल में उत्पन्न भी हो, किन्तु वह संयम के मूलगुणों से रहित हो, तो ऐसे गच्छ को त्याग देना चाहिए ॥९०॥

साधुता का आधार संयम है, विद्या, लब्धि-चमत्कार, वक्तृत्व कला या लेखन कला आदि नहीं। विद्या, लब्धि और अन्य विशेषताएँ तो असंयमी गृहस्थों, मिथ्यादृष्टियों और कुप्रावचनिकों में भी होती हैं। इन विशेषताओं से कोई निर्ग्रंथ श्रमण नहीं हो सकता । *जैन साधु वही हो सकता है जो सम्यक्चारित्र संपन्न हो ।* साधु में संयम के मूलगुण तो होने ही चाहिए, अवश्य होने चाहिए । बिना मूलगुणों के वह असाधु ही रहता है। जिस गच्छ में संयमहीन साधुओं का अस्तित्व हो, वह गच्छ संयमवान् साधुओं के रहने योग्य नहीं होता । संयमी साधु को ऐसे गच्छ का त्याग कर देना चाहिए, भले ही वह गच्छ विद्या, बुद्धि, कला, लब्धि और अन्य विशेषताओं से युक्त हो ।

वत्थोवगरणपत्ताइ दव्वं नियनिस्सरणं संगहियं ।

गिहिगेहम्मि य जेसिं ते
किणिणो जाण न हु मुणिणो ।।९१।।

जो मुनि अपनी निश्रा के गृहस्थों के घरों में वस्त्र, पात्र, उपकरणादि रखते हैं या द्रव्य जमा रखते हैं, उन्हें मुनि नहीं, किन्तु किणी (किणी=फोड़ा=गुमड़ा अर्थात् चारित्र रूपी शरीर में निःसार एवं दुःखदायक बना हुआ अंग) जानना चाहिए ।।९१।।

संग्रहखोर, साधु नहीं हो सकता । जिसके पास इतनी सामग्री हो, कि जो उसके काम में नहीं आये, उससे उठाई नहीं जा सके, मोटरे साथ में रखनी पड़े या गृहस्थ के यहाँ रखनी पड़े, वह तो परिग्रही गृहस्थ है ।

उसे अपरिग्रही साधु मानना असत्य है। उसके शरीर पर साधुता का वेश व्यर्थ है । जिस प्रकार शरीर में उत्पन्न फोड़ा, शरीर के हित में नहीं है । उससे शरीर को पीड़ा होती है। शरीर में से फोड़े को हटाने से ही सुख प्राप्त होता है, उसी प्रकार चारित्र रूपी शरीर में परिग्रह फोड़े के समान है । इससे संयम रूपी शरीर दुःखी होता है । अत एव संग्रहखोर वेशधारी को साधु नहीं मानना चाहिए ।

जे पवयणं भणित्ता गिहिपुरओ कंखए धणं ताओ ।
ते णाणविक्किणो पुण मिच्छत्तपरा न ते मुणिणो
।।९२।।

जो साधु, गृहस्थों को शास्त्र सुनाकर उसके बदले में उनसे धन की इच्छा रखते हैं, उन्हें ज्ञान का विक्रय करने वाले और मिथ्यादृष्टि जैसे जानना चाहिए, किन्तु उन्हें मुनि नहीं मानना चाहिए ।।९२।।

उस समय शास्त्र सुनाने वाले उपदेशक साधु को भेंट रूप में द्रव्य और वस्त्र देने की प्रथा थी और वह द्रव्य वे साधु नामधारी वक्ता ग्रहण करते थे। यह प्रथा यति एवं श्री पूज्य वर्ग में देखने में आई थी । वर्तमान में शास्त्र की वाचना प्रारंभ होने के पूर्व वाचक मुनिराज को शास्त्र बहराने की प्रथा है । उस शास्त्र को वही गृहस्थ बहरा सकता है, जिसकी घी की बोली ऊँची हो । बोली का द्रव्य, सात क्षेत्रों में से ज्ञान क्षेत्र में जमा होता है ।

धर्म के साथ परिग्रह का गठबंधन पौद्गलिक परिणति से हुआ । स्वयं साधु, संस्थाओं के लिए धन जोड़ने लगे । विरागी का संसार त्याग=परिग्रह त्याग भी उपासकों के परिग्रह संग्रह का कारण बन गया । एक-एक उपकरण चढ़ावें पर चढ़ने लगे । मृत साधु के शव की अंतिम क्रिया भी इस चढ़ावें से नहीं बच सकी । ऊँची बोली के लिए साधु का शव एक-दो-दिन रखना भी प्रारंभ हो गया । *चढ़ावे बोलने की प्रथा असुविहित आचरित है, यह भूला दिया गया ।* कई साधु यह ध्यान रखते हैं कि कहाँ कौन धनवान् है ? उससे किस कार्य में पैसा लगवाना है ? चढ़ावें ऊँचे दर में जाते है, तब कुछ साधु खुश होते हैं, अपनी क्रेडीट मानते हैं, कुछ भाग भी रखवाते हैं । यह सब असंयमी प्रवृत्ति है और मिथ्यात्व बढ़ाने वाली है ।

अप्पावराहट्ठाणे कुव्वंति सदप्पओ महादंडं ।
तं धूमधामगहियं सप्पुव्व सया विवज्जिज्जा ।।९३।।

अल्प अपराध के पात्र को जो आचार्य, अभिमानपूर्वक महान् दंड देते हैं, ऐसे धूम धाम गृहित (आडम्बरी) आचार्य का सर्प के समान दूर से ही त्याग कर देना चाहिए ।।९३।।

जिस दुर्भागी शिष्य पर आचार्य क्रोधित हो जाते हैं, उसे अल्पदोष का भी बड़ा दंड देते हैं ।

प्रिय पात्र के बड़े दोष की उपेक्षा और अप्रिय के अल्प दोष का महादंड देने में आचार्य का न्याय, विवेक एवं समदृष्टि नहीं रहती । वे पक्षपाती बन जाते हैं । कभी कभी तो पक्षपात के वश होकर आचार्य झूठे को संरक्षण दे देते हैं और सच्चे को पृथक् कर देते-निकाल देते हैं । उसे सच्चाई के पुरस्कार में बहिष्कार का दंड मिल जाता है ।

धूम धाम शब्द का अर्थ आचार्यश्री स्वयं अगली गाथा में बतलाते हैं।

धूमं पयंडकोहणसीलं सुविहियपओससंजणियं ।
नियआणाभंगेण य करंति फग्गुप्पगिट्ठगुणं ।।९४।।
धामं गारवरसियं नियपूयामाणसमुद्दउक्करिसं ।
लोगववहारदंसणगव्वेण गुणाण निक्करणं ।।९५।।

प्रचंड क्रोधी स्वभाव को 'धूम्र' कहते हैं । अपनी आज्ञा के भंग से जो आचार्य, अपने श्रेष्ठ गुण को निःसार कर देते हैं और सुसंयमी संतों पर द्वेष रखते हैं, उन्हें 'धूम युक्त' कहते हैं ।।९४।।

गारव-गर्व में चूर रहना 'धाम' कहलाता है । अपनी पूजा और सत्कार रूपी समुद्र के उत्कर्ष का लोकव्यवहार में प्रदर्शन करके गर्व करना और आत्मगुणों का न्यक्करण (तुच्छ करना) धाम का लक्षण है ।।९५।।

कषाय की तीव्रता धूम और धाम का लक्षण है । धूम में क्रोध कषाय की प्रचण्डता है । द्वेष रूपी अग्नि में चारित्र रूपी गुणों को जलाने से ईर्षा रूप धूआँ उठता है, इससे वह धूम कहलाता है । धाम में मान कषाय की प्रचुरता है । ऋद्धि, रस

और साता गारव का नशा इस प्रकार छाया रहता है कि जिससे सद्गुणों को दबकर नीचे उतरना पड़ता है ।

वर्तमान में धूमधाम का अर्थ 'आडम्बरी प्रवृत्ति' किया जाता है ।

आचार्य ही जब विशिष्ट क्रोधी, अभिमानी अथवा आडम्बरी हो, तो उनके अंतेवासी कैसे हो सकते हैं ? गुणानुरागी साधु, ऐसे आचार्य का त्यागकर गुणों के सागर गुरु का आश्रय प्राप्त करते हैं ।

शरणागत घातक आचार्य

जह सीसाइ निकिंतइ कोइ सरणागयाण जीवाण ।
तह गच्छमसारंतो, गुरु वि सुत्ते जओ भणिओ ।।९६।।

जिस प्रकार कोई पापी जीव, अपनी शरण में आये दुःखी जीव की घात करने रूप महान् दुष्कर्म करता है, उसी प्रकार गच्छ की सारणा, वारणा आदि नहीं करने वाला आचार्य भी शिष्यों के समूह रूप गच्छ का घात करता है-ऐसा सिद्धांत में कहा है ।।९६।।

आचार्य श्री हरिभद्रसूरिजी कहते हैं कि वह आचार्य शरणागत-घातक जैसा पापी है, जो गच्छ की सारणा वारणादि नहीं करके विशुद्ध निर्ग्रंथ गच्छ की (जो तरण-तारण जहाज समान होता है) अपनी दुराचारी वृत्ति एवं सत्वहीनता से दुराचारमय बनाकर पतन का निमित्त बना देता है ।

भयभीत प्राणी किसी की शरण में जाता है-यह विश्वास लेकर कि वह परोपकारी, शरणागत-रक्षक एवं शांति का धाम है । किन्तु वह दुरात्मा आगत विश्वासी व्यक्ति का रक्षक नहीं

होकर खुद ही भक्षक बन जाय, उसके धन और जीवन को लूट ले, तो यह उसकी महान् अधमता है । आचार्यश्री कहते हैं कि उसी अधम शरणागत-घातक के समान वह आचार्य या गुरु भी है, जो उपासकों एवं जनता से तरण-तारण, विशुद्ध संयमी, भगवान् वीर का वंशज एवं गणधर भगवान् का पट्टाधिकारी का सम्मान पाकर भी अपने गच्छ-शिष्यों के सदाचार की रक्षा और दुराचार की रोक नहीं करता और विकार, दोष एवं दुराचार को चलने देता है, तथा

जो स्वयं के एवं शिष्यों के दुराचार को छुपाता, दबाता और बचाव करता है, वह तो उससे भी महापापी है ।

उन्मार्गी आचार्य

उम्मग्गंमि पविट्ठो उम्मग्गपरूवओ सहायकरो ।
सुविहियजणपडिकूलो आयरिओ वि तहा जाण ।।९७।।

ऐसे आचार्य को उन्मार्ग में पहुँचे हुए, उन्मार्ग के प्ररूपक, उन्मार्ग प्ररूपक के सहायक और सुविहित साधुओं-सुसाधुओं के शत्रु जानना चाहिए ।।९७।।

आचार्य का मुख्य कर्त्तव्य है कि वे सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य इन पांच आचार का स्वयं दृढ़ता पूर्वक पालन करे और अपने अधीनस्थ साधु-साध्वियों से पालन करवावे । सुविहित साधुओं का समादर करे। संघ की उन्मार्ग से, उन्मार्ग-प्ररूपकों से और उन्मार्ग-सहायकों से रक्षा करें । जो साधु, उन्मार्ग की प्ररूपणा करते हों, उन्हें रोके । उन पर नियंत्रण रखे और नियंत्रण नहीं मानने वाले को संघ से पृथक् कर दे । जिससे मोक्षमार्ग सुरक्षित रहे। आचार्य का यह आवश्यक

कर्त्तव्य है । जो आचार्य अपने इस उत्तरदायित्व का पालन नहीं करते और स्वतः उन्मार्ग गामी बन जाते हैं, उन्मार्ग की प्ररूपणा करते हैं और उन्मार्ग प्ररूपक के सहायक बनते हैं, वे सावद्याचार्य हैं, पापी आचार्य हैं। वे रक्षक नहीं धर्म-भक्षक हैं, हितैषी नहीं, हितशत्रु हैं ।

वह वैद्याचार्य कैसा, जो रोगियों को कुपथ्य सेवन से नहीं रोककर कुपथ्य सेवन की उन्हें खुली छूट दे दे एवं कुपथ्य सेवन करने वालों का सहायक बने ।

वे आचार्य, प्रजापालक नरेश के समान नहीं, किन्तु पल्लिपति तस्करराज के समान हैं, जिनके सैनिक, धर्म रूपी धन की लूट करते हैं । उनकी सरदारी में धर्मघातक शक्ति फूलती फलती है । वर्तमान में ऐसे आचार्य अनेक हैं जो पल्लिपति तस्करराज से भी बढ़कर है ।[1]

जे लोइयकज्जरया धणट्ठीणो भत्तलोयकयथुणणा ।
सुविहियजणाण अहिया ते पासंडा कुसीला य ।।९८।।

जो आचार्य, लौकिक कार्यों में लीन रहते हैं, धन को चाहने वाले हैं, भक्त लोगों की स्तवना-प्रशंसा-स्तुति करने वाले हैं और सुसाधुओं के लिए दुःखदायक हैं, वे आचार्य पाषंडी एवं कुशीलिया हैं ।।९८।।

आदरसत्कार के भूखे, स्वार्थी, चारित्र के ढीले और विपरीत दृष्ट आचार्य ही लौकिक कार्यों में रुचि लेते हैं और धन के

1. तुलना :- गच्छाचार पयन्ना गाथा २८ भट्टायारो सूरि.
श्रावक संघ को वैराग्य वर्द्धक प्रवचन न देकर केवल स्व संपद्राय की पुष्टी का प्रवचन करने तक तो उन्मार्ग प्ररूपकता नहीं आती पर जब अन्य सामाचारी की निंदा की प्रवृत्ति होती है, तब वह उन्मार्ग प्ररुपकता हो जाती है।

इच्छुक होते हैं, ऐसे मार्गच्युत आचार्य ही भक्तों की गरज करते हैं। ऐसे शिथिलाचारी, उन्मार्ग गामी एवं धन लोभी आचार्य को सुविहित-उत्तम आचार वाले संत कब भाएंगे ? उनकी आत्मा, सुविहितों का हित नहीं चाहती। वे स्वयं सुसाधुओं के विरुद्ध मोर्चे लगाने के लिए अपने सुभट रूपी साधुओं और उपासकों से उन्हें सताने का प्रयत्न करते हैं। पम्पलेटों के द्वारा उन्हें बदनाम करने की प्रवृत्ति भी पूरजोश से प्रारंभ है। ऐसे आचार्य, पाखंडी (दंभी, ढोंगी) और कुशील-बुरे आचार वाले हैं।

इन्हें त्याग दो

अगीयत्थकुसीलेहिं संगं तिविहेण वोसिरे।
मोक्खमग्गम्मि मे विग्घं पहंमी तेणगं जहा ॥९९॥

- गच्छाचार पयना गाथा ४८

आयरियप्पमुहा य एयारिच्छा य हुंति जत्थ गणे।
किंपागफलयसरिसो संजमकामीहिं मुत्तव्वो ॥१००॥

अगीतार्थ एवं दुराचारी साधुओं के संसर्ग का त्याग मन, वचन और काया से करना चाहिए। क्योंकि जिस प्रकार मार्ग में लूटने वाले चोरों का साथ दुःखदायी होता है, उसी प्रकार मोक्षमार्ग में ऐसे साधुओं का संसर्ग विघ्न रूप होता है ॥९९॥

जिस गच्छ में आचार्यादि साधु ऐसे हों, तो ऐसे गच्छ का संयमप्रिय साधुओं को, किंपाक फल के समान जानकर त्याग कर देना चाहिए ॥१००॥

आचार्य श्री कहते हैं कि पूर्वोक्त दुर्गुणों के स्वामी, चाहे आचार्य हो, गुरु हो या सामान्य साधु ही हो-कोई भी हो, उनका

संग, चोरों के साथ की तरह त्यागकर पृथक् हो जाना चाहिए। अगीतार्थ और दुराचारी साधुओं का सम्पर्क, मन से, वचन से, और काया से-यों तीनों प्रकार से त्यागना आवश्यक है। जिस प्रकार धन लेकर वन में जाने वाले के लिए चोरों का साथ विनाशकारी होता है, उसी प्रकार मोक्षमार्ग के पथिक के लिए, संसार रूपी भयानक वन में अगीतार्थ या उन्मार्ग देशक और दुराचारी साधुओं का साथ, साधना में बाधक होता है। इसलिए ऐसे साधु का साथ, किंपाकफल-विषफल के समान दूर से ही त्याग देना चाहिए।

आचार्य श्री हरिभद्रसूरिजी में संयम-प्रियता कितनी थी। इसका खयाल उपरोक्त कथनों से आता है। उस शिथिलाचार प्रधान युग में, चारों ओर फैले हुए दुराचार, जिसमें सामान्य साधु ही नहीं, आचार्य जैसे उच्च पदाधिकारी भी डूबे हुए थे, उनका उपरोक्त उद्घोष बड़ा ही मर्मस्पर्शी है। धर्म प्रिय जन को धर्म की दुर्दशा देखकर खेद होता ही है। जिसके हृदय में अपनी पवित्र संस्कृति के प्रति प्रेम हो, वह ऐसी स्थिति में चुप नहीं रह सकता। आचार्यश्री भी चुप नहीं रह सके। उन्होंने अपना कर्त्तव्य निभाया। परिणाम चाहे जो हुआ हो।

आचार्यश्री के हृदय से निकले हुए कठोर शब्द और अधम उपमाएं, किसी अप्रशस्त उद्देश्य से नहीं निकली। उनके मन में किसी के प्रति द्वेष या वैर भरा हो-ऐसा भी नहीं है। उन्होंने श्रमण धर्म की पवित्रता बनाये रखने के भाव से प्रेरित होकर एवं दुराचारियों से संघ को बचाने के शुभ भाव से अथवा प्रशस्त द्वेष से उपरोक्त शब्दों का प्रयोग किया है। ऐसे शब्दों के

नमूने आगम में भी मिलते हैं ।

किन्तु आज के कुछ समझदार उपासक ऐसे भी हैं, जो संस्कृति घातकों के साथ सम्मान सूचक शब्दों का व्यवहार करने की सलाह देते हैं । उनकी ऐसी सलाह, चोरों का सम्मान करने जैसी है ।

कई तो जानते समझते हुए भी धर्म-घातकों एवं दुराचारियों का वैसा ही सम्मान करते हैं, जैसा सुसाधुओं का करते हैं । यह स्थिति उनकी सत्वहीनता स्पष्ट कर रही है और यह बता रही है कि वे कितने दब्बु हैं ।

दुराचारियों की संगति से मर जाना श्रेष्ठ

वरं वाही वरं मच्चु, वरं दारिद्दसंगमो ।
वरं अरण्णे वासो य, मा कुसीलाण संगमो ।।१०१।।

व्याधि-रोग से दुःखी होना अच्छा, मर जाना उत्तम है, दरिद्रता के संताप से संतप्त होना श्रेष्ठ है, गांव छोड़कर वन में रहना ठीक है । किन्तु कुशीलियों-दुराचारियों की संगति करनी अच्छी नहीं है-बहुत बुरी है ।।१०१।।

आचार्यश्री कहते हैं कि कुशीलियों-दुराचारियों की संगति करने से तो रोगी रहकर दुःख भोगना अच्छा है, मर जाना श्रेष्ठ है, दरिद्र-अभावग्रस्त रहना ठीक है और ग्राम नगर की सुविधा छोड़कर वनवास के कष्ट झेलना उत्तम है, किन्तु दुराचारियों की संगति करना अच्छा नहीं हैं, क्योंकि दुराचारियों की संगति से संयमी जीवन का नाश होता है ।

जिस प्रकार सदाचारी, इज्जतदार एवं प्रतिष्ठित गृहस्थ, चोरों, जुआरियों, शराबियों और गुण्डों की संगति नहीं करते और उन असामाजिक तत्त्वों से बचते रहते हैं । वे समझते हैं कि इनकी संगति से प्रतिष्ठा गिरती है और बुराइयों को प्रोत्साहन मिलता है तथा सदाचार में क्षति पहुँचती है । उसी प्रकार धर्म की आराधना करने में तत्पर सुसाधुओं को भी दुराचारियों की संगति से दूर ही रहना चाहिए । जो साधु, दुराचारियों के साथ रहते हैं, उनसे संभोग सम्पर्क रखते हैं तथा किसी भी रूप में समर्थन करते हैं, वे दुराचार के समर्थक माने जाते हैं । इससे संयम का स्तर गिरता है और दुराचार बढ़ता है । इसलिए दुराचारियों की संगति का त्याग करना सदाचारियों, संयमियों एवं धर्म प्रेमियों का प्रथम कर्त्तव्य है । श्रेष्ठजन मरना स्वीकार कर लेते हैं, किन्तु सत्कार संमान या पद प्रतिष्ठा के लोभ से अथवा परीषह उपसर्ग या मृत्यु के भय से धर्म को धक्का मारने के लिए तैयार नहीं होते । सत्त्वहीन मनुष्य ही ऐसा करते हैं ।

वे अपनी सत्त्वहीनता छुपाने के लिए शांति, संगठन या संघ हित की ओट लेते हैं ।

हीणायारो वि वरं मा कुसीलाणसंगमो भद्दं ।
जम्हा हीणो अप्पं नासइ सव्वं हु सीलनिहिं ॥१०२॥

दुराचारियों की संगति से तो हीनाचार (न्यूनाचार) फिर भी ठीक है, क्योंकि हीनाचार तो अल्प गुण की अथवा अपनी आत्मा की ही क्षति करता है, किन्तु दुराचारियों की संगति तो स्व पर उभय को-सभी को नष्ट करती है ।।१०२।।

उपरोक्त गाथा अपेक्षापूर्वक कही गई है। आचार्यश्री हीनाचार के समर्थक नहीं । उन्होंने कहा कि दुराचारियों की संगति में

जितनी हानि होती है, उतनी हीनाचार से नहीं होती । कोई व्यक्ति साध्वाचार का पूर्ण रीति से पालन नहीं करता और कुछ त्रुटि रखता है, तो वह अपनी ही हानि करता है, उससे दूसरों की हानि नहीं होती, किन्तु दुराचारियों की संगति से तो अपनी और दूसरों की भी हानि होती है । दुराचार का अनुमोदन-समर्थन, ऐसा पाप है कि उससे वेशधारियों को प्रोत्साहन मिलता है, उनका बचाव होता है और अनभिज्ञ लोग भी उनका पक्ष करके शुद्धाचार एवं जिनाज्ञा की अवहेलना करते हैं । इससे पवित्र संस्कृति विकार ग्रस्त होती है ।

कई कुशीलिये तो इतने दुःसाहसी होते हैं कि वे कुशील का सेवन एवं जाहिर प्रचार करते भी नहीं लजाते ।[1] उनके दुःसाहस को साथियों-संगियों से प्रोत्साहन मिलता है । यह प्रोत्साहन उनकी हिम्मत बढ़ाता है और वे दुराचार में विशेष प्रवृत्त होते हैं । अत एव कुशीलियों की संगति का त्याग करना अत्यावश्यक है । आत्मा और निर्ग्रंथ धर्म के लिए हितकारी है, रक्षक है ।

संगति का प्रभाव

अंबस्स य निंबस्स य दोण्हं पि समागयाइं मूलाइं ।
संसग्गीए विणट्ठो अंबो निंबत्तणं पत्तो ।।१०३।।
जो जारिसेण मित्तिं करेइ अचिरेण तारिसो होइ ।
कुसुमेहिं संवसंता तिला वि तग्गंधिया हुंति ।।१०४।।

जिस प्रकार आम और नीम के वृक्ष के मूल सम्मिलित उगे हों, तो संसर्ग दोष से आम्रवृक्ष नष्ट होकर नीम के रूप में परिणत हो जाता है ।।१०३।। [पंचवस्तुक गाथा ७३६]

1. जैसे-लाईट, माईक, लेट्रीन के उपयोग का उपदेश भी देते हैं ।

जिस प्रकार पुष्प के साथ रहने पर तिल भी पुष्प की गंधवाला हो जाता है, उसी प्रकार जो मनुष्य जिस प्रकार के मनुष्य के साथ मैत्री करता है, वह शीघ्र ही उसके जैसा हो जाता है ।।१०४।। पंचवस्तुक ७३१

कुशीलियों की संगति का प्रभाव समझाने के लिए आचार्यश्री उदाहरण प्रस्तुत करते हैं । यदि आम और नीम के पेड़ साथ ही लगाये जायँ, तो नीम का तो कुछ नहीं बिगड़ता, परंतु आम की हानि हो जाती है । उसकी उत्तमता नष्ट हो जाती है । वह स्वयं भी नीम के रूप में परिवर्तित हो जाता है। यदि उसका बाह्य रूप नहीं भी पलटे, पर उसकी मधुरता तो कटुता में बदल जाती है। यह कुसंगति का प्रभाव है ।

पुष्प के सहयोग से तिल भी सुगंधित हो जाता है, उसी प्रकार सदाचारियों की संगति से उत्तम गुणों की प्राप्ति होती है ।

सुसंगति से उत्तम गुणों की प्राप्ति होना उतना सरल नहीं, जितना कुसंगति से दुर्गुणों का । कुसंगति का प्रभाव शीघ्र होता है । उसमें प्रयत्न भी नहीं करना पड़ता है । नीम की कड़वाहट आम में सरलता से-केवल साथ उगाने से ही आ सकती है, किन्तु तिल में पुष्प की सुंगध लाने के लिए प्रयत्न करना पड़ता है । विद्या प्राप्त करने के लिए पंडित की संगति ही पर्याप्त नहीं, विद्यार्थी एवं पंडित का प्रयत्न भी आवश्यक होता है, तभी विद्यार्थी, पंडित बन सकता है। तात्पर्य यह कि कुशीलियों की संगति का दुष्परिणाम सरलता से-बिना परिश्रम के ही आ जाता है ।

शिष्य का प्रश्न

सुचिरं पि अच्छमाणो वेरुलिओ कायमणीअउम्मीसो ।
नहु चयइ [उवेइ] कायभावं पाहन्नगुणेण नियएण ।।१०५।।

सुचिरं पि अच्छमाणो नलथंभो उच्छूवाडमज्झम्मि ।
कीस न जायइ महुरो जइसंसग्गी पमाणं ते ।।१०६।।

प्रश्न - वैडूर्य नाम का मणि, दीर्घ काल तक कांचमणि के साथ रहने पर भी अपने प्रधानगुण को छोड़कर कांच रूप नहीं बनता और गन्ने की वाड़ी में दीर्घ काल तक रहा हुआ नलथंभ, मीठा नहीं होता । यदि संसर्ग दोष लगता होता, तो इनमें भी परिवर्त्तन हो जाता ।।१०५-१०६।। [पंचवस्तुक गाथा ७३२-७३३]

आचार्य श्री के संगति का प्रभाव पड़ने विषयक कथन पर शिष्य प्रश्न करता है कि वैडूर्य मणि (उत्तम जाति का नीलमणि) कांच के साथ चिरकाल तक रहने पर भी कांच रूप नहीं बनता और गन्ने के खेत में, गन्ने के साथ उत्पन्न नलथंभ (एक प्रकार का घास) मीठा नहीं होता । ये दोनों अपने-अपने गुण नहीं छोड़ते, तब संगति से दोष लगने का सिद्धांत कैसे सिद्ध हो सकता है ?

आचार्य श्री का उत्तर

भावुग अभावुगाणि अ लोए दुविहाए हुंति दव्वाइं ।
वेरुलिओ उत्थ मणी अभावणा अन्नदव्वेहिं ।।१०७।।
जीवो अनाइनिहणो तब्भावणभाविओ य संसारे ।
खिप्पं सो भाविज्जइ मेलणदोसाणुभावेण ।।१०८।।
जह नाम महुरसलिलं, सागरसलिलं कमेण संपत्तं ।
पावेइ लोणभावं मेलणदोसाणुभावेणं ।।१०९।।
[ओघ नि. ७७७ आ. नि. ११३१]
एवं खु सीलवंतो असीलवंतेहिं मीलिओ संतो ।
पावइ गुणपरिहाणिं मेलणदोसाणुभावेण ।।११०।।

लोक में भावुक (संसर्ग से परिवर्तन स्वभाव वाले) और अभावुक (संसर्ग से प्रभावित नहीं होने वाले) ये दो प्रकार के द्रव्य हैं। उनमें से वैडूर्यमणि, अभावुक स्वभाव वाला है। वह अन्य द्रव्य के संसर्ग से प्रभावित नहीं होता ।।१०७।। [पंचव स्तुक गाथा ७३४]

किन्तु अनादि अनंत ऐसा जीव तो भावना से प्रभावित होने वाला है। इसलिए मेलन-संसर्ग दोष के प्रभाव से वह जीव, शीघ्र ही प्रभावित हो जाता है ।।१०८।। [पंचस्तुक गाथा ७३५]

जिस प्रकार नदी का मीठा जल, समुद्र के खारे पानी में मिलने पर नमक जैसा खारापन प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार सुशीलवंत भी कुशीलियों के संसर्ग दोष के प्रभाव से निश्चय ही गुणहीनता को प्राप्त करता है, उसके गुण नष्ट होते हैं ।।१०९-११०।।

संसार में दोनों प्रकार की वस्तुएं हैं। मगशेलिया पत्थर में पानी नहीं रँजता, किन्तु मिट्टी में रँज जाता है और मिट्टी को भेदकर अपने साथ बहा ले जाता है। घृत व पारद में पानी नहीं मिलता, परंतु दूध में मिल जाता है। सोने के जंग नहीं लगता, परंतु लोहे को तो लगता है। इसी प्रकार यथाख्यात चारित्री को छोड़कर क्षायोपशमिक भाव वाले मनुष्यों-साधुओं में संसर्ग का प्रभाव होना सर्वथा संभव एवं शक्य है। इसीलिए तो आगमों में गृहस्थ का संसर्ग त्यागने और विविक्तशयनासन आदि नियम बनाये हैं।

अन्य जड़ वस्तुओं की अपेक्षा जीवों में संगति का दोष बड़ी सरलता से आ सकता है। हमारे धर्म-प्रिय भारत में ही देखिए, वेशभूषा में कितना परिवर्तन आया ? पगड़ी गयी और टोपी

आई और बाद में हेट, पेंट, नेकटाई आदि आ गये । धोती गयी, पाजामे आये और उनमें भी विविध भेद हो गये । इतना ही नहीं, सिर से पैर तक पूरी पोशाक ही अंग्रेज जैसी हो गयी । महिलाओं की पोशाक में कितना परिवर्त्तन हुआ ? आर्य मर्यादाओं को सर्वथा नष्ट विनष्ट कर दी । खानपान आदि में भी पलटा आ गया ।[1] यह सब संगति का प्रभाव है । उदय भाव के चलते जीव में संगति का असर होता रहता है । संगति ही क्या, आँखों से देखने मात्र से-दृष्टि पथ में आयी वस्तु भी अपना प्रभाव जीव पर डाल देती है । गाय, बैल आदि हाथी या सिंह को देखकर ही भयभीत होकर भाग जाते हैं और खाद्य या पेय वस्तु आँखों के सामने आते ही लपकते हैं । मनुष्य भी मित्र को देखकर प्रसन्न होता है और विरोधी को देखकर अप्रसन्न होता है तथा स्त्री को देखकर मोहित होता है । जब दूर से देखकर भी मनुष्य हृदय प्रभावित हो जाता है, तब संगति से अप्रभावित कैसे रहेगा? अत एव कुशील मनुष्य के संसर्ग से दूर रहने की शिक्षा, रुचि और प्रवृत्ति उचित ही है । इसमें संदेह करने की गुंजाइश नहीं है । समझदारों को इस विषय में किसी प्रकार का संदेह नहीं रहना चाहिए ।

जिनेश्वरों की आज्ञा

आलावो संवासो वीसंभो संथवो पसंगो य ।
हीणायारेहिं समं सव्वजिणेहिं पडिकुट्ठो ॥१११॥

सभी जिनेश्वर भगवंतों ने हीनाचारियों के साथ आलाप (एकबार बोलना) संवास (साथ में रहना) विश्वास, प्रशंसा और

1. लाईन में खड़े रहकर मांगकर याचक के समान खाने में गौरव मानने लगे ।

प्रसंग करने का निषेध किया है ।।१११।। उपदेश मालागाथा २२३

आगमों में बारह प्रकार के संभोग का विधान है । वह पूर्ण रूप से तो समान समाचारी वाले साधु साध्वियों के साथ हो सकता है । हीनाचारी या जैसे तैसे के साथ नहीं । यदि हीनाचारी के साथ सुशील साधु संभोग करे, तो वह दोष का पात्र होता है । जिनेश्वर भगवंतों ने कुशीलियों का संसर्ग नहीं करने का जो नियम बनाया है, वह स्वयं सुशील साधु की आत्म-रक्षा, उत्तम परंपरा को निर्दोष बनाये रखने और भव्य जीवों को संयम मार्ग की प्रेरणा लेने के लिए बनाया है । शुद्धाचारी साधुओं का नमूना देखकर शिथिलाचारी भी प्रेरणा ले सकता है और अपनी हीन अवस्था को छोड़कर उत्तम साधु बन सकता है ।

साधुओं में संभोग-भेद देखकर कई भोले अनभिज्ञ लोग कहा करते हैं कि-देखो ! साधुओं में भी पक्षपात, ऊँच नीच की भावना और रागद्वेष की परिणति है । वे भी हम गृहस्थों की तरह पृथक्-पृथक् वर्गों में रहते हैं, सब मिलकर साथ नहीं रहते । इनके क्या लेना देना या जमीन जायदाद का बंटवारा करना है' इत्यादि । उन लोगों को आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी और जिनेश्वर भगवंतों के वचनों पर गंभीरता पूर्वक विचार करना चाहिए । कुशीलियों अथवा शिथिलाचारियों के संसर्ग का त्याग करने का नियम, द्वेष भावना से नहीं बनाया गया, न लड़ाई झगड़ा करने के लिए । इसके पीछे सुसंयम की परिपाटी को सुरक्षित रखने, संसर्ग दोष से होने वाली हानि से बचने और जिनाज्ञा का पालन करने का पवित्र उद्देश्य रहा हुआ है ।

सुसाधुओं को इसका पालन अवश्य करना चाहिए और सुज्ञ श्रावकों को ऐसा करने में सहयोग देना चाहिए । जो श्रावक होकर भी शिथिलाचारी एवं कुशीलियों का संभोग चाहते हैं, एकमेक करना चाहते हैं, वे जिनेश्वर भगवंत, उत्तम साधु परंपरा एवं शुद्धाचार की उपेक्षा करते हैं, अवहेलना करते हैं, विराधना करते हैं । आगमकार कहते हैं कि-'कुशीलियों की संगति मत करो' और उपासक कहें कि-'सब मिलकर एक हो जाओ, संभोग असंभोग की बातें छोड़ों', तो यह जिनेश्वर भगवंतों का एवं निर्ग्रंथ प्रवचन का विरोध हुआ या नहीं ? जिनके आचार विचार में ढिलाई है, जो शिथिलाचार युक्त है, वे तो अपनी त्रुटि छुपाने के लिए सुसाधुओं की निंदा ही करते हैं, उन्हें 'घमंडी, अक्कड़, सड़ियल दिमाग, कट्टरपंथी, ढोंगी और न जाने क्या क्या विशेषण देते हैं और निंदा करते हैं । इसमें उनका स्वार्थ है । उन्हें अपने दोषों को छुपाकर लोगों में अपनी प्रतिष्ठा जमाये रखना है । किन्तु उपासकों को तो सोच-समझकर काम करना चाहिए । उन्हें किसी के बहकावे में आकर जिनाज्ञा की विराधना नहीं करनी चाहिए ।

हमने एक पत्र में संपादक जी को इस प्रकार निवेदन करते देखा-''मुनिवर ! अब जमाना देखकर अपनी आचार प्रणाली को कुछ 'उदार बनाइये' । मुझे विचार हुआ-'क्या आचार प्रणाली किसी साधु के घर की चीज है ? जिसे जो चाहे जैसी छोटी, बड़ी, नरम, गरम, लचीली और सख्त बना दे ? जिनकी आगमों पर श्रद्धा है, जो निर्ग्रंथ -प्रवचन और परंपरा पर विश्वास रखते हैं, उन्हें तो आचार प्रणाली को अपनी शक्ति से

बदलने का अधिकार नहीं है । जो संयम मर्यादा को क्षति पहुँचाने वाले नियम बनाते हैं, उनके हृदय में आगम एवं परंपरा के प्रति श्रद्धा नहीं है । वे सब कुछ करने में स्वतंत्र है, तभी तो शिथिलाचार ही नहीं, मिथ्या प्रचार निःसंक होकर किया जा रहा है । यदि थोड़े से बचे हुए संतों को भी सब में एकमेक कर दिया और वे भी एक मेक हो गये, तो निर्ग्रंथ साधुता के वास्तविक रूप के थोड़े नमूने रहे हैं, वे भी नहीं रह जायेंगे और

जमानानुसार फैशन बदलने वाली युवती जैसी दशा जैन साधुओं की हो जायगी।

जिस प्रकार आंग्लवेशभूषा अथवा राजाओं बादशाहों का शाही लिबास, परंपरागत रहता है, भारतियों की तरह परिवर्त्तनशील नहीं होता, उसी प्रकार धर्म के नियम एवं आचार प्रणाली भी किसी की इच्छा या अनुरोध से प्रभावित नहीं होती । आस्रव संवर नहीं बन जाता और संवर आस्रव नहीं हो जाता, क्योंकि ये तात्त्विक नियम, विशुद्ध आत्म-विज्ञान के आधार पर बने हैं । किसी समय या परिस्थिति विशेष से इन नियमों में परिवर्त्तन नहीं आ जाता । जैन तत्त्वज्ञान तीनों काल में अबाधित है । इसके विपरीत जो सोचते, बोलते, लिखते, प्रचार करते और दूसरों से अनुरोध करते हैं, वह प्रवृत्ति जिनेश्वर भगवान् के धर्म के अनुकूल नहीं है ।

उत्सूत्राचरण का फल

उस्सुत्तमायरंतो बंधइ कम्मं सुचिक्कणं जीवो ।
संसारं च पवड्ढइ माया मोसं च कुव्वइ य ॥११२॥

उत्सूत्राचरण करता हुआ जीव, अत्यंत चिकने कर्मों का

बंध करता है, संसार बढ़ाता है और मायामृषा का सेवन करता है ।।११२।। [उप० माला २२१ गाथा]

आचार्यश्री कहते हैं कि सूत्रोक्त विधि एवं मर्यादा के विपरीत आचरण करता हुआ जीव, अत्यंत दृढ़ एवं चिकने कर्मों का बंध करता है, जिनका छूटना अत्यंत दुष्कर और परिणाम बड़ा भयानक होता है ।

उत्सूत्राचरण अपने आप में बहुत बड़ा पाप है । माया मृषा के साथ उसकी भयंकरता बहुत अधिक बढ़ जाती है ।

उत्सूत्राचरण का अर्थ है--सूत्रोल्लिखित विधि के विपरीत आचरण । परमोपकारी सर्वज्ञ सर्वदर्शी वीतराग भगवान् की आत्महितकारी आज्ञा का उल्लंघन विपरीताचरण है ।

उत्सूत्राचरण विवशता के चलते भी होता है और इच्छापूर्वक भी, सुखशीलियापन से भी होता है और विपरीत एवं विरुद्ध विचारणा से भी । कोई कोई तो सुधारक, क्रांतिकारी एवं नूतनताप्रेमी बनने के लिए भी उत्सूत्राचरण करते हैं और अपने उत्सूत्राचरण को बड़ी इज्जत का काम समझते हैं । इस जमाने के कतिपय लोगों ने उत्सूत्राचारी को सुधारक, युग दृष्टा, सुलझे हुए विचारक आदि कई इल्काब दे दिये हैं ।

विवशता पूर्वक उत्सूत्राचरण होता है, उसका परिमार्जन हो सकता है । वहाँ न तो श्रद्धा की कमी है, न रुचि में अंतर है, मात्र आतंक से उत्पन्न विवशता है । विकट स्थिति के कारण उत्सूत्राचरण का परिमार्जन हो सकता है, किन्तु सुखशीलियापन से इच्छा पूर्वक या कुश्रद्धा, दुर्भावना एवं बागीपन के चलते किया हुआ उत्सूत्राचरण उत्तरोत्तर उग्र होता

है । इसका फल बहुत भयंकर होता है । इसकी भयंकरता तब अधिक बढ़ जाती है, जब कि उत्सूत्राचारी, सूत्रोक्त आचार का अतिवाद, अनेकांत अथवा अन्य किसी बहाने से लोप करके मिथ्यात्व को पुष्ट करने के लिए मायामृषा का आचरण करे। भगवान् के अनेकांत जैसे एक सिद्धांत को, अपनी कुबुद्धि से शस्त्र बनाकर, उन्हीं के दूसरे सिद्धांत का खंडन करे, लोप करे, ऐसा कृत्य तो मित्र के वेश में घुसे हुए शत्रु, विशेष सफलता से कर सकते हैं ।

शास्त्रकार कहते हैं, उत्सूत्राचरण बड़ा पाप है, किन्तु उत्सूत्र प्ररूपणा-प्रचार तो उससे भी बहुत बड़ा और भयंकरतम पाप है । यह तो सीधी और सरल बात है कि-पाप करना बुरा है, किन्तु पाप को पुण्य बतलाना, अधर्म को धर्म सिद्ध करने में प्रयत्नशील होना, तो महान् पाप है ।[1]

वैसे व्यक्तियों को आज उसका परिणाम दिखाई नहीं देता और वे अपने अभिनिवेश या कुबुद्धि के वेग में पाप के गहरे गर्त में उतरते ही जाते हैं, किन्तु जब परिणाम भोगने का समय आयगा, तब उनके तर्क यहीं धरे रह जायेंगे और वे दीर्घकालीन अज्ञान के अंधकार में भटकते रहेंगे ।

जो गिण्हइ वयलोवो अहव न गिण्हइ सरीरवुच्छेए ।
पासत्थसंगमो वि य वयलोवो तो वरमसंगो ॥११३॥

यदि (पासत्थापन) ग्रहण करें, तो व्रत का लोप होता है और नहीं करें, तो शरीर का नाश होता है (फिर हम क्या करें? इस प्रकार चारित्र का पालन करने में असमर्थ किसी साधु के

1. जैसे हम लेट्रीन का उपयोग करते हैं तो आपको करने में कौन-सा अधर्म हो जायगा ?

प्रश्न के उत्तर में आचार्यश्री कहते हैं कि) पासत्था की संगति संयम का नाश करने वाली है, इसलिए संयम का नाश करने से तो संगति नहीं करना ही उत्तम है ।।११३।। [उप० माला २२२ गाथा]

किसी उत्साह हीन सुखशीलिये ने यह उलझन उपस्थित की कि-आचार्यश्री निर्दोष रीति से चारित्र पालन करने पर जोर देते हैं, किन्तु हमारी स्थिति यह है कि कुशीलियापन स्वीकार नहीं करें, तो हमारा कमजोर शरीर गल गल कर नष्ट हो जायगा, हम मर जायेगे और पासत्थापन ग्रहण करने पर संयमी जीवन नष्ट हो जाता है। फिर हम क्या करें ?

'पासत्थापन ग्रहण करके शरीर को बचावें या संयम की रक्षा करें ?' इस प्रश्न के उत्तर में आचार्यश्री फरमाते हैं कि-पासत्थापन अथवा पासत्था की संगति से होने वाले संयमी जीवन के मरण से, तो पासत्थापन से दूर रहना ही बेहतर है । संयम खोकर असंयमी जीवन जीने से लाभ ही क्या है ? असंयमी जीवन तो पाप का भार बढ़ाने वाला है, ऐसे लम्बे असंयमी जीवन से तो संयमपूर्ण घड़ीभर का जीवन लाख दर्जे अच्छा है ।

तर्क अनुकूल भी होते हैं और प्रतिकूल भी । पासत्थपक्षी के लिए भी बोलने के लिए बहुत कुछ है । वे कहते हैं कि-- संयम का पालन करने के लिए शरीर की अनिवार्य आवश्यकता है । यदि शरीर ही नहीं रहे, तो संयम का पालन कैसे हो ? इसलिए शरीर रक्षा का प्रयत्न सर्वोच्च स्थान रखता है । यदि प्रतिसेवनादोष लगाकर व्रत भंग करके भी शरीर की रक्षा करनी पड़े, तो करनी चाहिए । यह 'कल्प-निर्दोष प्रतिसेवना' है ।

सबसे बड़ा मानव का जीवन है । मनुष्य जीता रहेगा, तो संयम का पालन भी कर सकेगा । शास्त्रकारों ने कहा है कि-

''जीवन्नरो भद्रशतानि पश्येत्''

वे यह भी कहते हैं कि कठिन परिस्थिति या अशक्त दशा में भी संयम का पुछल्ला पकड़ रखना-हठवाद है, एकांतवाद है, अतिवाद है और हठवाद, एकांतवाद और अतिवाद तो मिथ्यात्व है । अपने बचाव में वे यह भी कहते हैं कि जैनधर्म तो मध्यम मार्ग है । यह एकांत त्याग पर ही आधारित नहीं, किन्तु भोग भी इसमें उपादेय है आदि ।

जिसमें जितनी बुद्धि, विद्वत्ता और शक्ति होती है, वह उतने तर्क और युक्तियाँ पेश कर अपने पक्ष को बलवान बनाने में जोर लगाता है ।

उपरोक्त हीन मनोवृत्ति वाले संयम विघातक पक्ष से, संयम की रक्षा करने के लिए, धर्मप्रिय उत्तर पक्ष की ओर से कहा जाता है कि-

भाई! तुम्हारी बातें हीयमान परिणाम से युक्त है । कायरता, सुखशीलियापन, संयम की रुचि का अभाव और सम्यक् श्रद्धान से रहित लगती है । शुद्ध सम्यक्त्वी, संयमप्रिय भव्यात्मा तो इस प्रकार सोचती है कि- यद्यपि शरीर से ही संयम पलता है, किन्तु संयम खोकर शरीर नहीं रखा जाना चाहिए । संयम के लिए शरीर है, शरीर के लिए संयम नहीं है ।

शरीर तिजोरी है और संयम रत्न है । रत्न के लिए तिजोरी है, तिजोरी के लिए रत्न नहीं । यदि रत्न नहीं हो, तो तिजोरी किस लिए? क्या पत्थर, मिट्टी और कंडों के लिए तिजोरी है ?

आन, बान और शान के लिए मनुष्य प्राणदान दे देते हैं ।

भयंकर संकटों को झेलने में तत्पर रहते हैं । धर्म पर मर मिटने के लिए सत्त्व-सम्पन्न व्यक्ति बहुत हो गये हैं । आगमों में ऐसे महात्माओं और महासतियों के चरित्र बहुत उपलब्ध हैं । महात्मा धर्मरुचि, गजसुकुमार, अर्जुन, मेतार्य, खंदक, खंदक के ५०० शिष्य, श्रावकवर कामदेव जी, अरहन्नकजी, सती शीलवती सन्नारियाँ, शील रक्षार्थ जौहर करने वाली चित्तौड़ की रानियाँ, ठकुरानियाँ और सेविकाएं, जसमा आदि अनेक महिलाएं, स्वाधीनता के लिए साहसपूर्वक मृत्यु के मुँह में जाने वाले क्रांतिकारियों ने अपने ध्येय के आगे शरीर को कुछ भी नहीं समझा । उन्हें अतिवादी, एकांतवादी, हठवादी एवं अपरिणामी कहने वाले और ढिलाइ-प्रियता के कारण जैन-धर्म को ही मध्यम मार्ग बताने वाले को यथार्थदृष्टा, सत्यवक्ता एवं सन्मार्ग प्रचारक कैसे माने ?

आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी वैसे ढीलेढाले, कायर और पार्श्वस्थ मनोवृत्ति वाले से कहते हैं कि-"शरीर रहे चाहे जाय, परंतु व्रत का लोप करके पासत्थे की संगति या कुशीलियापन अपनाना उचित नहीं है ।[1]"

कुशीलियापन तो बुरा है ही, किन्तु इससे भी हजारों गुना बुरा है, इस बुरे को अच्छा एवं उपादेय मनाना और इससे भी लाखों करोड़ों गुना बुरा है, इसे प्रचार द्वारा लोगों के गले उतारकर उनकी श्रद्धान बिगाड़ना । उनके हृदय से सम्यग्दर्शन और ज्ञान रूपी अमृत निकालकर मिथ्यात्व का विष भरना । अरिहंत भगवान् के उत्तमोत्तम धर्म-निर्ग्रंथ प्रवचन-मोक्षमार्ग के प्रति गद्दारी करना मामूली पाप नहीं है ।

1. अपवाद मार्ग गीतार्थों के लिए है ही ।

ऐसे साधु पिशाचों को वंदना महापाप है

एयारिसाण दुस्सीलयाण साहुपिसायाण भत्तिपुव्वं जे ।
वंदणनमंसणाइ कुव्वंति ते महापावा ।।११४।।

इस प्रकार के कुशीलिए साधु पिशाचों को जो भक्ति पूर्वक वंदना नमस्कार करते हैं, वे महापाप करते हैं ।।११४।।

जिस प्रकार पिशाचदेव, क्रूरता पूर्वक लोगों का रक्त मांस चूस लेते हैं, उसी प्रकार ये दुराचारी साधु भी भोले अनभिज्ञ अंधश्रद्धालु उपासकों के माल, उनकी वंदना, नमस्कार, भक्ति और बहुमान प्राप्त करते हैं । उनकी अंधभक्ति का अनुचित लाभ उठाकर अपने असंयम का पोषण करते हैं ।

कुछ साधुवेशी पिशाच तो ऐसे भी हैं कि जिन्हें पुरुषों या बड़ी-बूढ़ी महिला की अनुपस्थिति में घर में आने देने में भी खतरा है ।[1] वे मस्तक मुण्ड साधुवेश की कुछ भी लाज नहीं रखते । कई मायावी, गाँवों और नगरों में झगड़े खड़े करवा कर कलह की होली जला देते हैं । जहाँ वे यह देखते हैं कि बिना लड़ाये अपना उल्लु सीधा नहीं होता, वहाँ भोले भोंदुओं, पक्ष पुजारियों और स्वार्थियों को अपने प्यादे बनाकर बाग में आग लगा देते हैं ।

इस प्रकार के मायावी वेशधारी को वंदना नमस्कार करना, भक्ति प्रदान करना-महापाप है । इससे असाधु को साधु मानने का मिथ्यात्व, उनके असंयम रूपी अधर्म को धर्म मानने का मिथ्यात्व, शुद्धाचारी श्रमणों के समान आदर देकर उन शुद्धाचारियों

1. कईयों ने घर में जाकर अनाचार कर लिया है ।

को दुराचारियों के समान बताने रूप मिथ्यात्व और सबसे बड़ा पाप श्रीजिनेश्वर भगवान् के उत्तम धर्म को क्षति पहुँचाने रूप है ।

कई सत्व-हीन उपासक दुराचारियों के दुराचार को जानते हुए भी उनके चरण चूमते हैं, कई उनके मिथ्या प्रचार को समझते हुए भी सभ्यता का खोटा प्रदर्शन करने के लिए उन्हें अपनी भक्ति अर्पण करते हैं, कई ऐसे भी हैं जो उन्हें मानते नहीं, वंदते नहीं, किन्तु लिखते समय अपनी अत्यंत नम्रता, परम सभ्यता का दांभिक प्रदर्शन करने के लिए उन्हें 'श्रद्धेय, आदरणीय, महात्मा' आदि विशेषण से शोभित करते हैं, यह सब पाप है । अपना मतभेद, विरोध एवं असहयोग स्पष्ट व्यक्त करना चाहिए । *मन में कुछ दूसरा और वचन में परम विनम्रता-यह भुलावा है ।*

यहाँ-*'वचनेसु किं दरिद्रता'* की बात आगे आ सकती है, किन्तु वह अपनी सीमा तक ही उपयुक्त होती है । यदि उसका सीमातीत-असीम उपयोग हो, तो चोर, जार, कसाई आदि को भी-*'परमपूज्य, प्रातः स्मरणीय, श्रद्धेय, महात्मन्'* आदि विशेषण देकर अपनी मधुरतमता का सर्वत्र प्रदर्शन करना चाहिए और आगमों में दुराचारियों को *'जहर के समान बतलाया'* उसे गलत मानना चाहिए । किन्तु ऐसी बात नहीं है। अपने भावों को सही रूप में प्रकट करने के लिए और उनकी अनुपादेयता, अवंदनीयता बताने के लिए वैसे शब्दों का उपयोग करना अनुचित नहीं है ।

श्री हरिभद्रसूरिजी कहते हैं कि दुराचारी साधुवेशधारी पिशाचों को वंदनादि करना महापाप है। यह कहना सर्वथा उचित है । क्योंकि वे पिशाच हमारे धर्मरूपी परम धन के भक्षक हैं ।

आचार्य श्री हरिभद्रसूरिजी जैसे प्रकाण्ड विद्धान् भी जिन्हें

'पिशाच' का विशेषण दें, उन्हें हम जानते समझते हुए भी सन्मान दें, यह तो निरी सत्वहीनता ही है । वे दुराचार को प्रोत्साहन देने वाले हैं ।

कुगुरु वंदनादि का प्रायश्चित्त

तेसिं गुरुबुद्धीए पच्चक्खाणाइ धम्मणुट्ठाणं ।
धम्मुत्ति नाऊणं विहलं पच्छित्तजुग्गं च ॥११५॥

उन कुशीलिए साधुओं को गुरु मानकर उनके पास जो प्रत्याख्यानादि धर्मानुष्ठान करते हैं, वह निष्फल होता है और वह प्रायश्चित्त के योग्य है ॥११५॥

असाधु अथवा कुसाधु को साधु मानना मिथ्यात्व है । मिथ्यात्वी को गुरु मानकर आदर देना, मिथ्यात्व को प्रोत्साहन देना है । मिथ्यात्व युक्त क्रिया बंधन कारक होती है और प्रायश्चित्त से इसकी शुद्धि होती है ।

छल्लहुयं गुरुकज्जे ममत्तबुद्धीए होइ मिच्छत्तं ।
लहुकिच्चे पणमासो सट्ठाणं धम्मसट्ठाणं ॥११६॥

वैसे कुशीलिए गुरु के प्रति ममत्व-बुद्धि होने पर मिथ्यात्व लगता है और उसका प्रायश्चित्त 'षट् लघु' और लघु कार्य में पांच मास है। यहाँ स्वस्थान है, वह धर्म स्वस्थान है ॥११६॥

साधु के दुराचार को जानते हुए भी पक्षपात से या अपनेपन की बुद्धि से उसे शुद्धाचारी सद्गुरु के समान आदर दे, तो वह मिथ्यात्व है और उसका प्रायश्चित्त 'षट् लघु' है । षट् लघु प्रायश्चित्त भी जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भेद से युक्त है । इसका स्वरूप तत्संबंधी साहित्य से या बहुश्रुत से समझना चाहिए ।

दुराचारियों का कु-संघ

दुस्सीलदव्वलिंगीजणाण तप्पक्खकारओ लोओ ।
उम्मग्गअविहिरायी विहिपक्खे मच्छरधरो य ॥११७॥
सो संघो न पमाणं उम्मग्गपरूवयं च बहुलोयं ।
दट्ठूण भणंति संघं संघसरूवं अयाणंता ॥११८॥

दुःशील-दुराचारी वेशधारी साधुओं का पक्ष करने वाला, उन्मार्ग और अविधि का रागी और विधि-पक्ष वालों से द्वेष करने वाला जो लोक-समूह है, वह संघ नहीं है । ऐसा संघ प्रमाण (मानने योग्य) नहीं है । संघ के स्वरूप से अनजान पुरुष ही, उन्मार्ग की प्ररूपणा करने वाले बहुत लोगों का समूह देखकर उसे 'संघ' कह देते हैं ॥११७,११८॥

किसी उद्देश्य को लक्ष्य कर बने हुए मनुष्यों के वर्ग या संगठन को 'संघ' कहते हैं । ये संघ कई प्रकार के होते हैं । व्यापारियों का संघ, व्यवसाइयों, उद्योग संचालकों, मजदूरों, कर्मचारियों, कृषकों, नागरिकों आदि अनेक प्रकार के संघ होते हैं । कसाइयों का संघ भी बना और वेश्याओं का भी । इस प्रकार अच्छे या बुरे कामों के भी संघ होते हैं । जो प्रवृत्ति हमारी दृष्टि से बुरी है, जिस संगठन को हम उत्तम ध्येय संपन्न नहीं मानते, वह भी यदि अपने उद्देश्य के अनुकूल प्रवृत्ति करता है, तो उस गठन को तदनुकूल ठीक कहा जाता है । किन्तु जो संगठन या संघ, उद्देश्य के विपरीत आचरण करता है, तो उस संघ को 'कुसंघ' कहा जाता है ।

जैनधर्म लोकोत्तर संघ है । इस संघ का आधार निर्ग्रंथ प्रवचन है । जिनेश्वर भगवंतों के उपदेश के अनुसार श्रद्धा,

प्ररूपणा और योग्यतानुसार स्पर्शना करना, इस संघ का कर्त्तव्य है । श्रमण संघ और उस संघ के प्रत्येक सदस्य का कर्त्तव्य है कि वह अपनी श्रद्धा प्ररूपणा निर्ग्रंथ प्रवचन के अनुसार रखे और पांच महाव्रत, समिति, गुप्ति तथा समाचारी का निष्ठापूर्वक पालन करे । इस प्रकार की प्रवृत्ति करने वाला संघ ही 'सुसंघ' होता है । श्रावक संघ भी वही सुसंघ होता है, जिसकी श्रद्धा जिनधर्मानुसारी हो । वह जिनेश्वर देव के अतिरिक्त किसी को सुदेव और निर्ग्रंथों के अतिरिक्त किसी को सुगुरु नहीं मानता हो तथा मोक्ष के उद्देश्य पूर्वक संवर निर्जरा के परिपालन को चारित्र धर्म मानता हो, यथा शक्ति, पूजा, पाठ, सामायिक, व्रत, प्रत्याख्यान, ज्ञानार्जन करता हो । इस प्रकार का संघ ही सुसंघ हो सकता है । इसके विपरीत कुसंघ है ।

जिस श्रमण संघ में जिनधर्म विरुद्ध प्रचार किया जाता है, स्वच्छन्दाचार का बोलबाला हो और असंयमी प्रवृत्ति बढ़ रही हो तथा

दुराचार चतुराई पूर्वक चलाया जा रहा हो, वह तो कुसंघ ही है ।

ऐसे कुसंघ का चलना सहज सरल और चिरस्थायी होता है । स्वच्छन्दाचार युक्त संघ के चलने में कोई कठिनाई नहीं होती । दुराचारी सदस्य सोचते है कि हमारा निर्वाह संगठन में ही हो सकता है । इसलिए वे ऐसे कुसंग को अपनी सुरक्षा का गढ़ बनाकर पाखंड चलाते रहते हैं ।

कभी किसी के दुराचार का भंडा फूट जाता है, तो दूसरे साथी उस भ्रष्टता को किसी भी प्रपंच द्वारा दबाने का प्रयत्न

करते हैं और लोगों पर निर्दोषता का रंग जमाने की भरसक चेष्टा करते हैं ।

उनके उपासक भी पक्षपात, अज्ञान तथा स्वार्थवश होकर दुराचारियों के पूजक, पोषक और समर्थक बन जाते हैं ।

पापात्माओं का संगठन कितना बलवान होता है, यह डाकुओं के संगठन से जाना जा सकता है । संगठनबल से वे डाकू, अपने से कई गुणा अधिक संख्या वाले गांव को आतंकित करके लूट लेते हैं । ऐसे डाकूओं के संघ को पकड़ने या तोड़ने में महान् शक्तिशालिनी सरकार भी असफल हो जाती है ।

आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी कहते हैं कि ऐसे दुराचारी और वेश मात्र से साधु दिखाई देने वालों का संघ, 'कुसंघ' है । उस कुसंघ का पक्ष करने वाले लोग, जिनधर्म के प्रेमी नहीं, किन्तु उन्मार्ग एवं दुराचार के रोगी हैं और सुसाधुओं के द्वेषी हैं । ऐसा सदाचारियों का विरोधी और दुराचारियों का पक्षपाती समूह, धर्मसंघ एवं सुसंघ नहीं है । वह सुसंघ मानने के योग्य ही नहीं है । वास्तव में सदाचार को नष्ट करने वाला, धर्म के उत्तम नियमों और मर्यादा का लोप करने वाला समूह भी क्या धर्म-संघ कहे जाने के योग्य है ? वह तो धर्म-ध्वंसकों का संघ है । ऐसे कुसंघ की प्रशंसा वे लोग ही कर सकते हैं-जो जिनधर्म के विरोधी, दुराचारियों के पक्षपाती अथवा मूढ़मति हों । वे अपनी करतूत से धर्म के नाम पर पाप कमाते हैं ।

कई मूढ़ लोग, लोगों का बड़ा समूह देखकर भ्रमित हो जाते हैं और मान लेते हैं कि जिधर लोगों की अधिक संख्या हो, वही सुसंघ है । यह उनकी बुद्धि हीनता है । सत्य एवं धर्म की

कसौटी, कुसंघ या जन-समूह नहीं है । यदि जन-समूह की विशालता में धर्म होता, तो साधुओं से संसारी अनंतगुण हैं । इससे तो असंयम भी धर्म हो जायगा ? सोचने का यह ढंग ही खोटा है । धर्म की कसौटी जनसमूह नहीं, कुसंघ भी नहीं । इसकी खरी कसौटी धर्म ही है और धर्म के आगमोक्त विधि विधान है । जो सदस्य उनका निष्ठा पूर्वक पालन करते हैं, वे ही सुसंघ के योग्य हैं । यदि वे थोड़े हों, तो भी वे ही धर्म को धारण करने वाले, धर्म संघ के अंग हैं, शेष तो सुंदर विषफल के समान त्यागने योग्य है-कुसंघ है ।

आज्ञा-भ्रष्ट के समूह को संघ मत कहो

सुहसीलाओ सच्छंदचारिणो, वेरिणो सिवपहस्स ।
आणाभट्ठाओ बहु-जणाओ, मा भणह संघुत्ति ॥११९॥

सुखशीलिए और स्वच्छन्दाचारी लोग, शिवपथमुक्तिमार्ग के शत्रु हैं । ऐसे आज्ञा भ्रष्ट लोगों का बड़ा समूह हो, तो भी उसे "संघ" नहीं कहना चाहिए ॥११९॥

देवाइदव्वभक्खण-तप्परा, तह उम्मग्गपक्खकरा ।
साहुजणाण पओस-कारिणं, मा भणह संघं ॥१२०॥

देवादि के द्रव्य का भक्षण करने में तत्पर, उन्मार्ग का पक्ष करने वाले और सुसाधुओं के प्रति द्वेष रखने वाले को 'संघ' नहीं कहना चाहिए ॥१२०॥

अहम्मअनीईअणायार-सेविणो, धम्मनीइपडिकूला ।
साहूपभिइचउरो वि बहुया अवि मा भणह संघं ॥१२१॥

अधर्म, अनीति और अनाचार का सेवन करने वाले, धर्म-

नीति से प्रतिकूल-ऐसे साधु-साध्वी अधिक हों और श्रावक श्राविका भी बहुत अधिक संख्या में हों, तो भी उसे संघ नहीं कहना चाहिए ।।१२१।।

अन्य विशेषणों की भांति संघ विशेषण भी दो प्रकार का है । एक तो महत्त्व बढ़ाने वाला और दूसरा महत्त्व घटाने वाला । जिस प्रकार तीर्थ, सुतीर्थ भी होता है और कुतीर्थ भी । उसी प्रकार संघ भी दो प्रकार का है । एक तो स्वपर हितकारी, सुखकारी, कल्याणकारी, सदाचार, शुद्धाचार एवं उत्तम आचार का वाहक, जीव को जिनत्व की ओर बढ़ाने वाला और परमात्मपद पर पहुँचाने वाला संघ होता है । ऐसे समूह को पाकर 'संघ' शब्द का महत्त्व बढ़ जाता है । ऐसा संघ जिनेश्वरों द्वारा भी प्रशंसित होता है । किन्तु दुर्गुणों, दुराचारों और स्वच्छंदों को पाकर संघ शब्द भी निन्दित हो जाता है ।

संघ विशेषण को अधिक बदनाम किया-रंगे-सियारों ने । साधु वेश में रहकर दुराचार का सेंवन करने वाले गुप्त भ्रष्टाचारियों और प्रकट मिथ्यात्वियों ने निर्ग्रंथ संघ-लोकोत्तर संघ को सर्वथा महत्त्वहीन एवं लज्जाजनक स्थिति में ला दिया ।

आचार्यश्री कहते हैं कि ऐसे दुराचारियों के समूह को संघ नहीं कहना चाहिए । संघ तो गुणों का सागर एवं रत्नाकर होता है । जिनेश्वर भगवंत की आज्ञा का आराधक समूह ही सुसंघ होता है, भले ही वह छोटा और थोड़े मनुष्यों का हो । सुगंध तो बूंद भर हो, तो भी मनुष्य को प्रसन्न कर देती है और दुर्गंध थोड़ी हो या ढेरों-गाड़े भर । उस मैले से तो घृणा ही होती है । वह तो रोग ही फैलाता है । ऐसे विष्टा के समान दुर्गुणों के समूह से

संघ विशेषण लज्जित होता है ।

जो देवद्रव्यादि को हड़पने वाला हो, अपनी मर्यादा को तोड़ कर देवद्रव्य को स्वमालिकी का मानकर परिग्रही बन गया हो, दूसरों से अनाचार पूर्वक द्रव्य लेकर अपने उपभोग में लेता हो, उस भ्रष्टाचारी को सुसाधु नहीं कह सकते । एक सुश्रावक भी अनीतिपूर्वक किसी का धन नहीं लेता । वह दान किया हुआ या देव को अर्पण किया हुआ अथवा शुभ कार्यों में आये हुए द्रव्य पर नहीं ललचाता, तो साधु तो निष्परिग्रही एवं शुद्धाचारी होता है, उसे धन से क्या प्रयोजन है ? परिग्रह के त्रिकरण त्रियोग से त्यागी साधु, उपासकों द्वारा दिये हुए देव द्रव्यादि धन का भक्षण करे,

तो वह सदाचारी गृहस्थ से भी गया बीता है।

कहीं साधु, शास्त्रों के लिए धन संग्रह करवाने लगे, तो कहीं विद्यालयों, पुस्तकालयों एवं औषधालयों के लिए । धर्मस्थानों के निर्माण के लिए भी धन संग्रह होने लगा । साधु अपने खास रागी एवं विश्वस्त उपासक से कोई संस्था खुलवाता है या धर्मस्थान निर्माण करवाता है । वह बड़े बड़े नगरों में चातुर्मास करता है । उसके वे संस्था संबंधित खास उपासक वहाँ पहुँच जाते हैं और साधु के प्रभाव से हजारों रुपये बटोर लाते हैं । उन रुपयों में गृहस्थों द्वारा गड़बड़ें की गयी । साधु-बड़े-बड़े नाम और पदधारी साधु, हिसाब किताब देखने और जांचने लगे । कहीं-कहीं मर्जीदानों ने गड़बड़ें की, तो चुपचाप दबा दी गयी । पैसे के बल पर अपनी मर्यादा-हीनता एवं दुराचार की रक्षा करने वाले कुछ स्वार्थी लोगों को पिट्ठु बनाकर अपनी ओर से झगड़ने वाले खड़े किये गये । इस प्रकार द्रव्य का किसी धार्मिक

बहाने से संग्रह किया जाने लगा । उसमें से अनुचित तरीके से अपने इच्छित कार्यों में गुपचुप खर्च भी किया जाने लगा । इस प्रकार निष्परिग्रही परंपरा के बहुत से साधु, परिग्रह से संबंधित हो गये ।

दुराचारी साधुओं को अपनी प्रतिष्ठा कायम रखने के लिए, अपने अनाचार को युक्ति संगत बताना पड़ता है । वे ऐसी कोई न कोई कुयुक्ति निकाल ही लेते हैं । भक्तों का भौतिक कार्य कर उन्हें भक्त बना देते हैं । बस, हो गया पक्ष खड़ा । उसके पक्षकार भी खड़े हो जाते हैं । ऐसे कुसाधुओं और उनके पक्षकारों को सुसाधु बिलकुल नहीं सुहाते । वे उनके प्रति अपने हृदय में ईर्षा की आग जलाये ही रहते हैं और निंदा करके विशेष पाप कमाते रहते हैं ।

इस प्रकार कई तरह से दुराचार का सेवन करने वाले साधु और उनके पक्षकार श्रावकों के बड़े भारी समूह को भी संघ नहीं कहना चाहिए । किन्तु शुद्धाचारी साधु, साध्वियों और उनके उपासक उपासिकाओं की संख्या बिलकुल थोड़ी हो, तो भी वह संघ है-सुसंघ है, जिनाज्ञानुसारी लोकोत्तर संघ है ।

कहा जाता है कि पांचवें आरे के अंतिम चरण में एक साधु, एक साध्वी, एक श्रावक और एक श्राविका रहेंगे । इनको ही संघ कहा जायगा, शेष सब संघ बाह्य रहेंगे ।

साँप के समान विषैला संघ

अम्मापियसरिच्छो सिवघरथंभो य होइ जिणसंघो ।
जिणवरआणावज्झो सप्पुव्व भयंकरो संघो ॥१२२॥

जिनेश्वर भगवंत का संघ तो माता-पिता के समान और

मोक्ष रूपी महल के स्तंभ के समान हैं । जो जिनेश्वर की आज्ञा से बाहर चलने वाला समूह है वह तो सांप के समान भयंकर है ।।१२२।।

इस गाथा में आचार्यश्री ने संघ के दोनों रूपों को स्पष्ट रूप से बता दिया है । एक संघ है-रक्षक, पोषक, सुख समृद्धि का प्रदाता-ऐसे माता पिता के समान । वह उन्नति के परमोन्नत प्रासाद पर पहुँचाने वाला है। दूसरा संघ है विषधर सांप के समान भयंकर। अधोगति के गड्ढे में गिराने वाला ।

जिस समूह में जिनाज्ञानुकूल ज्ञान, दर्शन, चारित्र में श्रद्धा हो, जिसकी दृष्टि मोक्षमार्ग पर हो,

जिसमें रहे हुए साधु-साध्वी, जिनाज्ञा की आराधना में प्रयत्नशील हों, वह संघ, माता-पिता के समान हितकारी है ।

उसके आश्रय में रहा हुआ जीव, माता-पिता की गोद में रहे हुए बालक के समान पूर्णरूप से सुरक्षित एवं सभी प्रकार की उत्तम सामग्री से संपन्न है । वह शाश्वत सुख का स्वामी हो सकता है । किन्तु दुराचारियों के संघ में रहे हुए जीवों में पाप एवं मिथ्यात्व का विष रहा हुआ है ।

क्या स्वतंत्र विचारकों, स्वच्छन्दाचारियों, मिथ्या प्रचारकों, लौकिक दृष्टिवालों और बेलगाम घोड़े की तरह उन्मार्गियों का संघ भी कभी हितकारी हो सकता है ?

ऐसे साँप के समान भयंकर संघ से अनिष्ट ही हो सकता है ।

एक संघ है-अमृतकुंभ के समान, तो दूसरा है-विषकुंभ के समान । भले ही उस पर मीठी बातों और आकर्षक शब्दों का सुंदर ढक्कन लगा दिया हो, परंतु उसमें भरा तो विष ही है ।

एक दृष्टि से देखा जाय, तो दुराचारियों का संघ, विषधर से भी अति भयंकर होता है। विषधर से तो लोग डरते और दूर ही रहते हैं। उसका कोई विश्वास नहीं करता। किन्तु भ्रष्टाचारी वेशधारी और मिथ्या प्रचारक, इस प्रकार का आकर्षण खड़ा करते हैं कि जिससे भोले जीव, मोहित होकर उनके जाल में फँस जाते हैं। जिस प्रकार किंपाक फल-विष-फल में आकर्षक सुगंध, रूप और स्वाद होता है, उसी प्रकार मिथ्याचारियों में भी लुभाने वाला शब्दाडम्बर और आकर्षण होता है, जिससे तत्त्वज्ञान से अनभिज्ञ एवं रागी, द्वेषी तथा स्वार्थी लोग उनके पक्षकार बन जाते हैं।

अस्संघं संघं जे भणंति, रागेण अहव दोसेण।
छेओ वा मुहत्तं पच्छित्तं जायए तेसिं ॥१२३॥

जो राग या द्वेष से असंघ को संघ कहते हैं, उन्हें छेद प्रायश्चित्त अथवा मुहूर्त्त प्रायश्चित्त आता है ॥१२३॥

असंघ को संघ कहना मिथ्यात्व है। एक मिथ्यात्व तो अज्ञान के कारण लगता है, किन्तु जो जान बूझकर राग-द्वेष और पक्षव्यामोह में पड़कर, कुसंघ को संघ कहते हैं, वे तो अभिनिवेश मिथ्यात्वी हैं। जिसे अपनी भूल दिखाई दे और उस पाप की शुद्धि करना चाहे, तो उसके लिए प्रायश्चित्त करना पड़ता है।

फूटे हुए अंडे के समान

काऊण संघसद्दं अव्ववहारं कुणंति जे केइ।
पप्फोडिअसउणिअंडगं व ते हुंति निस्सारा ॥१२४॥

संघ का नाम धरकर जो अव्यवहार (अनुचित व्यवहार) करते हैं, वे पक्षी के फूटे हुए अंडे के समान निःसार हैं ॥१२४॥

आचार्यश्री कहते हैं कि-संघ-वीर-संघ, वर्धमान-संघ,

सुधर्म-संघ अथवा जैन-संघ का नाम धराकर भी जो दुराचार का सेवन करते हैं, तो वैसे संघ की दशा पक्षी के फूटे हुए अंडे के समान निःसार, व्यर्थ एवं अर्थ-हीन है । जिस अंडे में जीव नहीं हो, जिसमें से जीव मर चुका हो, वह अंडा निःसार ही होता है, उसी प्रकार जिस समूह में से धर्मरूपी प्राण निकल चुका हो, वह केवल नाममात्र का संघ किस काम का है ? उससे जिनधर्म और उपासकों का कौनसा हित हो सकता है ?

फूटा और बिगड़ा हुआ अंडा निःसार ही नहीं होता, उसमें के जीव रहित तरल पदार्थ में दुर्गंध उत्पन्न हो जाती है और वह फेंक देने के योग्य होता है, उसी प्रकार धर्महीन संघ में दुराचार रूप दुर्गंध होती है, अत एव वह त्यागने योग्य होता है ।

कौए के समान विष्ठा खाने वाले

तेसिं बहुमाणं पुण भत्तीए दिंति असणवसणाइं ।
धम्मोत्ति नाऊणं गूथाए तित्तिधंखाणं ॥१२५॥

ऐसे संघ का जो बहुमान करते हैं और धर्म समझकर उन्हें भक्ति पूर्वक आहार तथा वस्त्रादि देते हैं, वे (अधर्म को धर्म मानकर उस प्रकार संतुष्ट होते हैं जिस प्रकार) कौए विष्ठा खाकर तृप्त होते हैं ॥१२५॥

आचार्यश्री लिखते हैं कि ऐसे दुराचारियों के संघ का जो आदर करते हैं, सन्मान देते हैं तथा भक्तिपूर्वक आहारादि से प्रतिलाभते हैं, वे विष्ठा खाकर संतुष्ट होने वाले कौए के समान हैं । कौआ विष्ठा खाकर तृप्त एवं प्रसन्न होता है, उसी प्रकार वे कुसंघ का पक्ष करने वाले, उसकी उपासना करके धर्म मानने वाले, सचमूच अज्ञानी हैं या पक्षपाती हैं । वे अपने अज्ञान या पक्षपात से दुराचार-पाप रूप विष्ठा की उपासना करके, उससे

धर्म का लाभ प्राप्त करने का संतोष मानते हैं, किन्तु दुराचार को प्रोत्साहन देने से उनके पल्ले पाप पड़ता है ।

आचार्यश्री ने दुराचारियों[1] को आहारादि देना अनुचित बताया, वह सुपात्र दान से धर्म समझकर देने की भावना से अनुचित कहा । श्रावक का घर अतिथि सत्कार वाला ही होता है, अतः उसके घर से किसी को खाली नहीं भेजना । इससे दान देने का निषेध नहीं समझना ।

आचार्यश्री ने कुसंघ को जहरीले साँप, फूटे हुए अंडे और विष्ठा की उपमा दी । यह निंदा नहीं, किन्तु वास्तविक स्वरूप दर्शन है । उनकी जिनधर्म के प्रति अटूट भक्ति थी । धर्म की विडम्बना और दुर्दशा देखकर उनके मन में खेद हुआ और उपरोक्त शब्दों में उन्होंने अपने उद्‌गार व्यक्त किये ।

हड्डियों का ढेर

संघसमागमिलिया जे समणा गारवेहिं कज्जाइं ।
साहिज्जेण करंता सो संघाओ न सो संघो ॥१२६॥[2]

संघ समागम में मिले हुए श्रमण गारव एवं सहाय्य से जो काम करते हैं, वह संघ नहीं किन्तु संघात (ढेर) है ॥१२६॥

पूर्वोक्त स्वरूप वाले दुराचारियों के दुराचार में जिस संघ की सहायता हो और जो संघ, ऐसे दुराचारियों को साथ देकर गर्व का अनुभव करता है, वह संघ नहीं, किन्तु हड्डियों का ढेर है-*"सेसो पुण अट्ठी संघाओ ।"*

इससे पूर्व की गाथाओं में आचार्यश्री ने दुराचारियों को

1. दुराचारी के रूप में जो प्रख्यात हो गये हैं। वैसे साधुओं की यहाँ बात समझनी। समाचारी भेद वालों का यहाँ निषेध नहीं किया।

2. इस विषय मै "गुरु तत्त्व विनिश्चय" की १४० आदिश्लोक दृष्टव्य है ।

तथा उसके पक्ष के उपासक एवं पोषक समूह को संघ नहीं मानकर उसे विषधर साँप के समान भयंकर, फूटे हुए अंडे के समान निःसार एवं दुर्गंध युक्त तथा कौए के समान विष्ठा प्रेमी बताया। अब इस गाथा में आचार्यश्री कहते हैं कि ऐसे दुराचारियों के पोषक, सहायक एवं समर्थक समूह को संघ नहीं कहना चाहिए, उसे तो हड्डियों का ढेर मानना चाहिए।

जिसमें प्राण हो, सोचने समझने की शक्ति हो, जिसमें ज्ञान चेतना हो, ज्ञपरिज्ञा से जो युक्त हो, वह तो दुराचारियों का पोषण नहीं कर सकता। वह हिताहित को सोच समझकर हित-साधना में ही प्रवृत्त होता है किन्तु जो जिनेश्वर के उत्तमोत्तम धर्म को पाकर भी दुराचारियों का सहायक बन रहा है और उसमें गौरव का अनुभव करता है, वह समूह, जीवित होते हुए भी मुर्दे के समान है और हड्डियों के ढेर के समान है। जिस प्रकार हड्डियाँ जड़ निष्क्रिय होती है और उन्हें जहाँ डाल दें वहीं पड़ी रहती है-भले ही अशुचि स्थान हो, वैसे दुराचारियों के उपासक भी हैं। उनका वे दुराचारी लोग, मनमाना उपयोग करते हैं और वे हड्डियाँ उन कुशीलियों के हाथों में कठपूतली की तरह नाचती है। जिस प्रकार कोई व्यक्ति पत्थर उठाकर किसी पर फेंक देता है और सिर फोड़ देता है। वह पत्थर स्वयं कुछ नहीं कर सकता, फेंकने वाला जैसा चाहता है, वैसा उसका उपयोग करता है। वह चाहे तो उसे पूजें, उससे बादाम फोड़े या किसी का सिर ही फोड़ दे। वह चाहे तो उसे पाखाने में लगावे। इसी प्रकार इन चलती फिरती हड्डियों का भी हाल है। कुशीलिए इनका उपयोग अपना गौरव बढ़ाने, अपनी सुख सुविधा प्राप्त करने, अपने

द्वेषियों से लड़ाने, झगड़े करवाने और सिर फुड़वाने में भी कर सकते हैं ।

वासनापूर्ति का साधन भी इन्हीं में से प्राप्त करते हैं

और अपने पाप का ढक्कन भी इन्हें बनाते हैं । ये हड्डियाँ उन निर्जीव हड्डियों से भी अधिक भयंकर होती है । इनसे जिन शासन की-जैन परंपरा की दुर्दशा होती है ।

आचार्यश्री के हृदय में कुशीलियों द्वारा जिनधर्म एवं श्रमण परंपरा की की हुई दुर्दशा से बड़ा खेद हुआ । उन्होंने उपरोक्त शब्दों में अपना विरोध व्यक्त किया । आचार्यश्री की ये खरी-खरी बातें धर्म-प्रेम से सराबोर है । जब फलों-फूलों से भरी पूरी सुरम्य बाड़ी को बंदरों का टोला नष्ट करने लगे, तो उसके रखवारे और माली को दुःख होगा ही । ऐसी दशा में कोई उसे द्वेषी, कटुभाषी या क्रोधी कहे, तो यह उसकी मूर्खता है ।

कुशीलियों के सहायक भी दोषी

जे साहज्जे वट्टइ आणाभंगे पवट्टमाणाणं ।
मणवायाकाएहिं समाणदोसं तयं बिंति ॥१२७॥

आज्ञा भंग में प्रयत्नशील ऐसे दोनों (साधु या श्रावक) के जो सहायक होते हैं, वे मन, वचन और काया से समान दोष वाले हैं ॥१२७॥

साधु हो या साध्वी और श्रावक हो या श्राविका, कोई भी हो, जो जिनाज्ञा के भंजक, लोपक एवं विराधक ऐसे कुशीलियों के सहायक होते हैं, वे भी मन, वचन और काया से जिनेश्वर भगवंतों की आज्ञा का भंग करने वाले हैं । उन्हें भी उन कुशीलियों के समान ही विराधना का पाप लगता है ।

जिस प्रकार चोर का सहायक भी चोर होता है और राष्ट्रद्रोही को संरक्षण एवं सहायता देने वाला भी राष्ट्रदोह का अपराधी माना जाकर दंड का पात्र होता है, उसी प्रकार आत्मोत्थानकारी उत्तम धर्म एवं देवाधिदेव की आज्ञा के भंजक को आदर देने वाला, उनको सहयोग समर्थन करने वाला भी धर्म-द्रोही होता है । वह भी उस पाप का पोषक होने के कारण अपराधी होता है ।

जो अनजान में साथ देते हैं, उनकी बात दूसरी है । वे तो अज्ञानी हैं, किन्तु जो साधुओं की रीतिनीति को जानते समझते हुए भी उनके पाप में सहायक बनते हैं, वे भगवदाज्ञा के विराधक होते हैं, उनकी दुर्नीति अवश्य ही खेद जनक है ।

कोई-कोई अबूझ व्यक्ति उन कुशीलियों के बचाव में कहते रहते हैं कि-''कुशीलियापन-शिथिलाचार तो सदा से है । यह कोई नयी बात नहीं है । शोर मचाने से शिथिलाचार मिट नहीं सकता । अत एव इस ओर ध्यान नहीं देना चाहिए''आदि उनका यह कहना तो ठीक है कि शिथिलाचार नया नहीं है, पहले भी था । किन्तु आपत्ति यह है कि संघ, शिथिलाचार एवं शिथिलाचारी को उदरस्थ करले-अपने में घुला मिलाकर एक कर ले-यह स्थिति आपत्ति जनक है । आगम काल और उसके पूर्व शिथिलाचार था, तो उसका संघ में स्थान नहीं रहता था । संघ, शिथिलाचारी से अपना संबंध छुड़ा लेता था । आगमकार ने स्वयं आगमों में वैसा और उसके दुष्परिणाम का उल्लेख किया । वैसे शिथिलाचारी से संभोग नहीं रखने का नियम भी बनाया है । इतना ही नहीं, पासत्थ, कुशील, अवसन्नादि से

संभोग करने पर प्रायश्चित्त का विधान किया है । इन सब बातों की उपेक्षा करके बड़े-बड़े दुराचारियों को भी उदरस्थ कर लेना, महान् धर्म-द्रोह है । जिन्हें लौकिकता प्यारी है, जो लोकैषणा के इच्छुक हैं, वे धर्म व्यवस्था की उपेक्षा करके जिनाज्ञा के विराधक बनते हैं । वे जान बूझकर अनजान बनते हैं ।

'शिथिलाचार पहले भी था'-ऐसा कहकर शिथिलाचार को मान्य करने, उसे शुद्धाचार-सा आदर देने की भोंडी दलील देने वालों की दृष्टि में अब किसी हत्यारे या चोर को दंड नहीं मिलना चाहिए और डकैती, व्यभिचार, घूसखोरी मांस भक्षणादि को भी शुद्धाचार मान लेना चाहिए, क्योंकि ये सभी नये नहीं हैं । ऐसे पाप तो पहले भी होते थे । उन महानुभावों की दृष्टि, शिथिलाचार का बचाव करने के लिए पापों की ओर तो चली गयी, किन्तु उनकी पक्षपात से बंध आँखें यह नहीं देख पायी कि जिनागमों ने शिथिलाचार का विरोध किया है और शिथिलाचारियों से संभोग करने वाले को प्रायश्चित्त का भागी बतलाया है । वे मैले पक्ष का बचाव मात्र ढूंढ़ते हैं । उनकी दृष्टि में उज्ज्वल पक्ष आता ही नहीं । मैले में मगन तो पशु होता है, मानव नहीं होता ।

आचार्यश्री कहते हैं कि जो कुशीलियों को आदर देते हैं, सहायता करते हैं, वे स्वयं वैसे ही दोष के पात्र हैं ।

मध्यस्थ रहने वाले भी व्रत लोपक हैं

आणाभंगं दट्ठुं मज्झत्थाठिंति ठवंति जे तुसिणीआए ।

अविहिअणुमोयणाए तेसिं पि य होइ वयलोवो ॥१२८॥

आज्ञा का भंग होता हुआ देखकर भी जो मध्यस्थ होकर मौन रहते हैं, अविधि के अनुमोदक होने के कारण उनके व्रत का भी लोप होता है ॥१२८॥

चाहे साधु हो या साध्वी, श्रावक हो या श्राविका, जो जिनाज्ञा का भंग होता स्वयं देख-समझ रहे हैं, फिर भी अदेखाई (अन्देखा) करके उस ओर से आँखें मूंद लेते हैं अथवा मध्यस्थता का डोल करके चुप रहते हैं, वे भी उस अविधि एवं आज्ञा भंग के अनुमोदक हैं और इससे उनका व्रत भी दूषित होता है । जिस साधु साध्वी को आज्ञा भंग उत्सूत्र प्ररूपण अथवा व्रत भंग की जानकारी हो और वह उसका योग्य प्रतिकार नहीं करके तटस्थ रहे, तो माना जायगा कि वह न तो सुव्रतों-शुद्धाचार को उपादेय मानता है और न दुराचार को हेय मानता है । हेयोपादेय में तटस्थ रहना तो, धर्म और पाप में तटस्थ रहना है । ऐसी स्थिति में धर्म का अवरोध और अधर्म का फैलाव होता रहता है । जो धर्म प्रिय अथवा धर्म-पालक एवं रक्षक कहलाते हुए भी धर्मी नाम धराने वाले अपने संगी साथियों द्वारा होते हुए अधर्म प्रचार तथा अधर्माचरण को नहीं रोके और तटस्थ रहे, तो उसका धर्मीपन भी कैसे समझा जायगा ?

गुंडे लोग, मां-बहिन की लाज लूटने लगे और पुत्र तथा भाई खड़ा देखता रहे, तो उसका पुत्र और भाई होना भी लज्जा जनक है । हमलावर पिता पर आक्रमण करे और पुत्र खड़ा देखता रहे, तो वह पुत्र संसार में मुंह दिखाने योग्य नहीं रहता । इसी प्रकार जिनेश्वर भगवान् की आज्ञा का खुले रूप में उल्लंघन

होता रहे, उत्सूत्र प्रचार बेरोक टोक होता रहे और दुराचार की घटना होती रहे, फिर भी जिनेश्वर भगवान् के वंशज एवं उत्तरदायित्त्वपूर्ण स्थानासीन पदाधिकारी तथा अन्य साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका, तटस्थ-दृष्टा की तरह देखते रहें और चुप्पी साधे रहें, तो यह स्थिति उनकी जिनेश्वर भगवान् और उनके धर्म के प्रति कर्त्तव्य पालन को एक चुनौती है । यह कैसे हो सकता है कि उपास्य की अवहेलना, उपासक चुपचाप देखता रहे ? कम से कम उन्हें ऐसे दूषित तत्त्वों के प्रति अपना सहयोग बंद करके उपासक वर्ग को सावधान तो करना ही चाहिए । जिससे विकार का अवरोध हो और अनजान लोग वैसे दूषित तत्त्वों से बचे रहें ।

हम निर्बल होते हुए भी अपने धन, जमीन, जायदाद, प्रतिष्ठा और कुटुंबादि को बचाने के लिए दूसरों से लड़ते, झगड़ते और झंझट में पड़ते हैं, किन्तु अपने धर्म के लिए दूषित तत्त्वों से-धर्म की प्रतिष्ठा को क्षति पहुँचाने वालों से, संबंध भी नहीं छोड़ सकते और अनजान धर्म बंधुओं को खतरे से सावधान भी नहीं कर सकते-यह हमारा कैसा धर्मात्मापन है ?

आचार्यश्री ने ठीक ही कहा है कि जो साध्वादि, जिनेश्वर भगवंत की आज्ञा का भंग होता हुआ देखकर भी मध्यस्थ बने रहें और चुप्पी साध लें तथा धर्म पक्ष का सहायक नहीं बने, वह उस आज्ञाभंगादि पाप को बढ़ने और फैलने का अवसर देकर धर्म की क्षति करने वाला है। ऐसे व्यक्ति अपने व्रतों के प्रति भी उदासीन हैं।

तेसिं पि य सामण्णं भट्ठं भट्ठवया य ते हुंति ।

जे समणा कज्जाइ वित्तरक्खाइ कुव्वंति ।।१२९।।
किंवा देइ वराओ मणुओ सुट्ठु वि धणी विभत्तो वि ।
आणाइक्कमणं पुण तणुयं पि अणंतदुहहेऊ ।।१३०।।

उनकी साधुता भी भ्रष्ट है और व्रत भी भ्रष्ट है-जो धन रक्षणादि कार्य करते हैं ।।१२९।।

यदि धनवान् व्यक्ति विरुद्धाचरण करे, तो वह बिचारा क्या कर सकता है ? किन्तु भगवान् की आज्ञा का सूक्ष्म किंचित् उल्लंघन भी अनंत दुःखों का कारण होता है ।।१३०।।

साधु के पांचवें महाव्रत में यह प्रतिज्ञा होती है कि-"मैं अल्प मात्र भी परिग्रह, न तो स्वयं रखूंगा न दूसरे से रखवाऊंगा, न परिग्रह रखने-रखाने का अनुमोदन ही करूँगा । मैं सभी प्रकार के परिग्रह का तीन करण और तीन योग से त्याग करता हूँ"-इस प्रकार की प्रतिज्ञा गुरु के सामने करता है । इनमें से कई पवित्रात्माएँ तो इसका सच्चाई के साथ पालन करती है, किन्तु कई ऐसी भी होती हैं- जो प्रतिज्ञा को तोड़कर संयम भ्रष्ट हो जाती है । वस्त्र-पात्रों का अधिक संग्रह, उपाश्रयों का परिग्रह और इसके अतिरिक्त धन का संग्रह भी किया जाता है ।

उस समय स्थिति इतनी अधिक बिगड़ गयी थी कि कई प्रसिद्ध आचार्य आदि उपासकों से रजत और स्वर्ण मुद्रा की भेंट-पूजा भी स्वीकार करने लगे थे । उपासकों को उपदेश देने और प्रत्याख्यान कराने की भी भेंट लगती थी । देवद्रव्यादि पर भी उनका मोह रहता था । वर्त्तमान में भी परिग्रह रखने के कई मार्ग चल रहे हैं । संस्थाओं के लिए साधु स्वयं परिग्रह संग्रह करवाते हैं । वे उपासकों को प्रभावित करके उनसे पैसे निकलवाते

हैं । कोई पुस्तक प्रकाशन के लिए, कोई पत्रिका के प्रकाशन प्रचार और संचालन के लिए, कोई अध्यापक सेवक (विहार में सेवा करने वाला) और स्व मालिकी की पत्रिका को चलाने के लिए एवं पक्षपोषक पत्रकार से अपनी प्रशंसा और विपक्ष की निंदा के लिए और कोई औषधी आदि के लिए परिग्रह विषयक प्रपंच करते कराते हैं । कई संस्था के धन का हिसाब किताब देखते और गड़बड़ी मालूम होने पर चिंता करते हैं और अंत में उस घटना को दबाकर आगे बढ़ते हैं ।

जो साधु परिग्रह रखने, रखाने और अनुमोदन विषयक कुछ भी क्रिया करते हैं, वे अपने महाव्रत को क्षति पहुँचाते हैं । आचार्यश्री कहते हैं कि ऐसे धन-रक्षकों का संयम भी भ्रष्ट है और साधुता भी भ्रष्ट है । वे भ्रष्टव्रती हैं ।

जो दानी उपासक, उनकी प्रेरणा से धन देता है, उस धन देने वाले का प्रभाव साधु पर भी पड़ता है ।

यदि वह दाता कभी कुछ अकृत्य करे, तो वह दबा हुआ साधु उसे कुछ कह भी नहीं सकता । वह जानता है कि यदि मैंने इन्हें कुछ कहा, तो ये मेरे व्रत भंग के अकृत्य को प्रकट कर देगा और मेरी बदनामी होगी ।

इसलिए वह कुछ कह भी नहीं सकता, उल्टा चापलूसी करता है ।

यह सब भगवदाज्ञा का उल्लंघन है । जिनाज्ञा की विराधना साधारण पाप नहीं है । भगवान् की आज्ञा की किंचित् विराधना भी अनंत संसार परिभ्रमण का कारण हो जाती है ।

ऐसों को उपदेश अनुज्ञा भी नहीं

तित्थयराराहणपरेण सुयसंघभत्तिजुत्तेण ।
आणाभट्ठजणम्मि अणुसट्ठी सव्वहा देया ।।१३१।।

तीर्थंकर की आराधना में तत्पर और श्रुत धर्म तथा संघ की भक्ति करने वाले जीवों के लिए योग्य है कि वे आज्ञा भ्रष्टजनों को अनुसष्ठी-उपदेश=अनुज्ञा सर्वथा नहीं दे ।।१३१।।

तीर्थंकरों की आज्ञा में तत्पर शास्त्र और संघ प्रतिभक्ति वान श्रावक-जिनाज्ञा से भ्रष्ट बने हुए लोकों को सर्व प्रकार से (जिस प्रकार शक्य हो उस प्रकार) हित शिक्षा देनी चाहिए । इस गाथा का अर्थ श्री राजशेखर सूरिजी ने संबोध प्रकरण में इस प्रकार किया है ।

आचार्यश्री कहते हैं कि श्री जिनेश्वर भगवंत की आज्ञा में तत्पर रहने वाले, श्रुत चारित्र धर्म एवं संघ भक्ति प्रेमी मनुष्यों को ऐसे कुशीलियों भ्रष्टाचारियों के साथ, किसी प्रकार का संबंध नहीं रखना चाहिए । उनके साथ धार्मिक संबंध भी नहीं रखना चाहिए । जब वे स्वयं धर्म का बाना पहनकर और धर्मी नाम धराकर भी धर्म-द्रोह कर रहे हैं, तो ऐसों के साथ रहना उन्हें उपदेश (देने की) अनुज्ञा देना भी उनके धर्म-द्रोह का अनुमोदक है । इसलिए ऐसे भ्रष्टों से तो सदा एवं सर्वथा बचकर ही रहना चाहिए । ऐसे लोग, संपर्क बढ़ाकर अन्य धर्मात्माओं को भ्रम में डालने, फुसलाने और बिगाड़ने की चेष्टा करते रहते हैं ।

उपदेश तो मिथ्यादृष्टियों को भी दिया जा सकता है । उपदेश देने में कोई रुकावट नहीं है । आचार्यश्री का उद्देश्य उपदेश की मनाई का नहीं है ।

वे यह जानते हैं कि अभिनिवेशी जीवों का सुधरना प्रायः असंभव है ।

उनके मन में गांठ होती है । वे स्वार्थवश ही समीप आते और मिलते हैं और अपना मतलब गांठते हैं । बाद में लोगों में भ्रम फैला कर उन्हें अपने पक्ष में मिलाने की चेष्टा करते हैं । इसलिए इनसे बचकर रहना ही अच्छा है ।

कुसंघ से तो नरक अच्छा

गब्भपवेसो वि वरं भद्दवरो नरयवासपासो वि ।
मा जिणआणालोव-करे वसणं नाम संघे वि ॥१३२॥

गर्भ प्रवेश भी अच्छा और नरकावास का बंधन भी अच्छा है, किन्तु जिनाज्ञा के लोपक संघ में रहना अच्छा नहीं है ॥१३२॥

जिनेश्वर भगवंत, जिन शासन एवं जिनवाणी के पूर्ण रसिक आचार्यश्री कहते हैं कि जिनाज्ञा-लोपक संघ के साथी-सदस्य एवं समर्थक बनने से तो मृत्यु प्राप्त कर पुनः गर्भावास में जाकर दुःख भोगना अच्छा है और नरक में जाकर नारकीय कष्ट सहना उत्तम है, परंतु धर्म-द्रोही के पड़ौस में भी रहना ठीक नहीं है ।

गर्भवास और जन्म, दुःखदायक है । दुःख की प्रचुरता से ओतप्रोत है और नरक का निवास तो भयंकर दुःखों की खान में दीर्घ निवास करने के समान है । गर्भ के दुःखों से तो प्राणी कुछ महीनों में ही मुक्त हो सकता है, किन्तु नरक के दुःखों से मुक्त होने में दस हजार वर्ष से लगाकर असंख्य काल तक का अमर-निवास हो जाता है । यह दुःख सामान्य नहीं है। नरक के भयंकर दुःखों की कोई भी चाहना नहीं करता, न अच्छा ही बतलाता है । किन्तु

आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी नरक के दुःखों को अच्छा बतलाते हैं। इसका कारण यह है कि वे धर्म को आत्मा में रखकर गर्भवास तथा नरकावास का दुःख भोगना अच्छा समझते हैं, किन्तु धर्मभ्रष्ट होकर ग्रैवेयक के अहमेन्द्र बनना भी ठीक नहीं समझते।

यद्यपि धर्मीपन की अवस्था में जीव, नरक के योग्य सामग्री का संचय नहीं करता। मनुष्य और संज्ञी तिर्यंच तो एकमात्र वैमानिक देव का ही आयुष्य बांधता है और सम्यग्दृष्टि नारक और देव, मनुष्यायु का ही बंध करते हैं, तथापि सम्यग्दृष्टि होने के पूर्व नरकोत्पत्ति के योग्य गति, शरीर, आयु आदि सामग्री जुटाली हो, तो सम्यग्दृष्टि अवस्था में-सम्यग्दर्शन लिये हुए नरक में जाना पड़ता है। उस समय वह श्रद्धा की अपेक्षा धर्मी-जिन प्रवचन का प्रेमी ही रहता है। उसका गुणस्थान चौथा रहता है। किन्तु कुसंघ-जिनाज्ञालोपक संघ का समर्थक बनकर तो वह धर्म-घातक बन जाता है। इस प्रकार धर्म का अपलाप करते हुए कभी जीव ने किसी कारण से या धर्मीपन की अवस्था से पहले देवायु का बंध करके देवगति के सुख भी प्राप्त कर ले, तो क्या हुआ ? धर्मरूपी अनमोल रत्न खोकर देवगति पा ली, तो आत्मिक पतन तो हुआ ही। उसका परिणाम इस देवभव के बाद जब अनुभव में आयगा, तब मालूम होगा।

जिस प्रकार सती शीलवती महिला रत्न, अभाव एवं दरिद्रता पूर्ण जीवन व्यतीत करना पसंद कर लेगी, किन्तु सतीत्व एवं सदाचार का त्यागकर धन प्राप्त करना नहीं चाहेगी। उसी प्रकार आचार्यश्री भी कहते हैं कि श्री जिनधर्म रूपी रत्न को संभाल कर, भले ही मैं कुशीलियों और उनके पक्षकारों द्वारा

दिये हुए दुःखों को सहूँ और गर्भवास तथा नरक के दुःख भी कदाचित् भोगना पड़े, तो भोगूं, परंतु जिनाज्ञा के लोपक पक्ष का साथी तो ठीक, पर अनुमोदक भी नहीं बनूं। मैं उससे पृथक् विरुद्ध ही रहूँ। वे उपदेश देते हैं कि—

भव्यो! यदि भयंकर कष्ट प्राप्त हो, तो भी तुम जिनेश्वर भगवंत के धर्म के ही अनुयायी रहो, जिनधर्म के ही पक्षकार रहो। जिनाज्ञा विराधक, लोपक एवं जिनधर्म की अवहेलना करने वाले समूह के साथी मत बनो, मत बनो, हर्गीज मत बनो। यह तुम्हारी आत्मा के लिए हितकर होगा।

दिगम्बर जैन विद्धान् कविवर बुधजनजी ने भी अपने छह ढाले की अंतिम ढाल में कहा है कि—

भला नरक का वास, सहित समकित जे पाता।
बुरे बने वह देव, नृपति मिथ्या मत माता।।

आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी भी यही कह गये हैं कि श्री जिन प्रवचन का अनुयायी-अनुरागी रहकर दुःख भोगना श्रेष्ठ है, किन्तु जिन प्रवचन के लोपक के साथ रहकर सुख भोगना भी नेष्ट-बुरा है।

केई भणंति मूढा, पासत्थाइजणस्स दंसणयं।
जिण आसायणकरणं, भमंति तेणंतसंसारं ।।१३३।।

कई मूढ़ लोग कहते हैं कि पासत्थादि कुसाधु भी दर्शनीय है। किन्तु वे यह नहीं समझते कि जिनेश्वर की आशातना करने वाला अनंत संसार में परिभ्रमण करता है ।।१३३।।

उदय भाव की विचित्रता से कई लोग भ्रांत धारणा लिये फिरते हैं। वे कहते हैं शिथिलाचारी और दुराचारी भी दर्शनीय

हैं । हमें तो वेश देखना चाहिए । उनके आचार की ओर देखने की हमें आवश्यकता नहीं है। हमारे लिये वेश ही प्रमाण है । इस भ्रांत धारणा ने कुशीलियों को प्रोत्साहन दिया ।

एक महानुभाव ने युक्ति लगाई-'यदि निर्मल जल नहीं मिले और प्यास के मारे प्राण जाते हों, तो मैला पानी पीकर भी प्राण बचाना पड़ता है, उसी प्रकार शुद्ध चारित्रवान् साधु नहीं मिले, तो कुशीलियों से भी धर्मोपदेश सुनकर धर्मरूपी प्राण को बचाये रखना चाहिए ।'

इस प्रकार की कुयुक्तियाँ लगाकर दुराचारियों का बचाव किया जाता है। किन्तु जिनाज्ञा की ओर ध्यान नहीं दिया जाता । वे भोले लोग यह नहीं सोचते कि कुशीलियों के कारण निर्ग्रंथ धर्म की प्रतिष्ठा गिरती है । उनके दुराचार, स्वार्थान्धता, पक्षपात और संयमहीनता से लोगों की धर्म से रुचि हटती है । बहुत से अज्ञ जीव तो इसी कारण धर्म से विमुख हो जाते हैं । कई लोग तो ऐसे भी होते हैं कि इनके आचरण को देखकर आगमिक विधानों और महापुरुषों के विशुद्ध संयम तथा उग्रतप आदि की बातों को ही बनावटी, असत्य एवं अतिशयोक्ति से पूर्ण मानने लगते हैं और सबसे बड़ी बाधा तो जिनेश्वर भगवंत की आशातना होती है । जिनेश्वर भगवंत ने तो निरारंभी, निष्परिग्रही एवं निरवद्य साधना से आत्मा के मोक्ष लक्ष्य को सिद्ध करने का विधान किया है और वैसे ही साधु को सुसाधु मानने की आज्ञा दी है । कुशीलियों को मान्यता देने से इस आज्ञा का उल्लंघन होता है और आज्ञा उल्लंघन से अनंत संसार का परिभ्रमण होता है ।

जम्हा नेव जिणिंदो सावज्जरओ संगथिसविभूसो ।
लोयप्पयारपक्खं कुणमाणो छंदवयमाणो ।।१३४।।
णो परवित्तीविवहारकारओ सो हविज्ज कइया वि ।
तम्हा कुसीललिंगं धम्मस्स विडंबणाहेऊ ।।१३५।।
इय जाणिऊण दक्खा कयावि न भणंति एस जिणवेसो ।
तद्दव्वलिंगमित्तं इसिज्झयमाई य वित्तिकए ।।१३६।।

जिस कारण से जिनेश्वर भगवंत, सावद्य में रत नहीं है, परिग्रह की गांठ वाले नहीं, शरीरादि की विभूषा करने वाले नहीं, लोकप्रवाह अथवा लोकोपचार का पक्ष करने वाले नहीं और स्वच्छन्द वाणी व्यवहार युक्त नहीं है ।।१३४।।

वे कभी परवृत्ति से (दूसरों की इच्छानुसार) प्रवृत्ति करने वाले नहीं है, उसी कारण से कुशीललिंग-साधुवेश धर्म की विडम्बना का कारण है ।।१३५।।

ऐसा जानकर दक्ष मनुष्य, आजीविका के लिए रखे हुए ऋषिध्वज-रजोहरणादि मुनि के द्रव्य लिंग मात्र को-'यह जिन वेश या जिनेश्वरों का दिया हुआ वेश है'-ऐसा कभी नहीं कहते ।।१३६।।

आचार्यश्री कहते हैं कि यह कैसी विषमता है ? जिनेश्वर भगवंत तो निरवद्याचारी, निष्परिग्रही, निराडम्बरी हैं । वे लोकैषणा, स्वच्छन्दाचार और पर के प्रभाव से रहित होते हैं, किन्तु उन्हीं का वेशधारण करने वाले ये साधु नामधारी व्यक्ति उल्टी ही चालें चल रहे हैं। इनकी प्रवृत्तियाँ सावद्य हैं । वे परिग्रही, आडम्बरी एवं विभूषा प्रिय हैं, वे लोक प्रवाह में बहते और स्वच्छन्द वाणी व्यवहार करते हैं । उनका साधुवेश और

रजोहरणादि आजीविका एवं मानपान के कारण बन गये । उनके साधुवेश को देखकर साधारण लोग भ्रम में पड़ जाते हैं और इस विचार के चलते उन्हें सन्मान देते हैं कि यह तो जिनेश्वर प्रदत्त वेश है । इसकी अवगणना करना-जिनेश्वर की अवगणना करना है । उनका ऐसा विचार करना उचित नहीं है ।

समझदार एवं चतुर मनुष्य वेश के भुलावे में नहीं आते । मात्र वेश धारण कर लेने से ही कोई वंदनीय नहीं हो जाता । वेश होते हुए और संयमी जीवन होते हुए भी विपरीत श्रद्धा और धर्म विरुद्ध प्रचार के कारण पहले भी जमाली आदि निह्नव अवंदनीय हुए हैं, तब असंयमी सावद्य सेवी, परिग्रही और विपरीत आचार विचार वाले कुशीलिए किस प्रकार वंदनीय हो सकते हैं ? वे तो वेश की विडम्बना करने वाले हैं । अत एव उनका आदर सत्कार नहीं करना चाहिए ।

बालाणं हरिसजणणं के वि य धारंति वेसमण्णयरं ।
उब्भड पंडुरवसणाइरहियं चिय सुविहियाभासं ॥१३७॥
रंगिज्जइ मइलिज्जइ उवगरणाणि बवुव्व गमणाणि ।
धारंति धम्ममाया-पडलाणि सुविहियभमत्थं ॥१३८॥
जणचित्तग्गहणत्थं वक्खाणाइ करंति वेरग्गे ।
भासंति अत्तदोसा साहुत्ति जणावबोहट्ठं ॥१३९॥
आयरिआ उवज्झायाणं दोसा भासंति कण्णजाहेणं ।
गाहिज्जइ जत्थ सुयं पमाइ दोसी त्ति तं भणइ ॥१४०॥

कुछ कुशीलिए बालजीवों को मोहने के लिए अन्य कई प्रकार का ऐसा वेश धारण करते हैं, जो उद्भट पंडुरवर्ण वाले वस्त्रादि से रहित और सुविहित मुनियों का आभास कराने वाला

है ।।१३७।।

वे उपकरणादि को रंगते हैं या मलिनता रहित करते हैं । वे बगुले की भांति धीरे-धीरे चलते हैं और सुविहित साधु होने का आभास कराने के लिए मायाचारिता पूर्वक धर्मदंभ करते हैं ।।१३८।।[1]

जनता का मन आकर्षित करने के लिए वे वैराग्य रस पूर्ण व्याख्यान देते हैं और लोगों में उत्तम साधु कहलाने के लिए अपने आत्मदोष प्रकट करते हैं ।।१३९।।

जिससे श्रुतज्ञान ग्रहण किया जाता है, उसे-यह प्रमादी है, यह ऐसा है, वैसा है दोषी है-ऐसा कहते हैं और आचार्य भी उपाध्याय के दोषों को गुप्त रूप से प्रकट करते हैं ।।१४०।।

उपरोक्त गाथाओं में कुशीलियों की बकवृत्ति का परिचय दिया गया है। दुराचार के साथ दंभ का गठबंधन रहता है। इसमें सभी हथकंडे चलते हैं ।

गिण्हंति गहावंति य दव्वाइं नाणकोसवुड्ढिकए ।
दंसइ किरियाडोवं बाहिरओ बहियलोयाणं ।।१४१।।

ज्ञानकोष की वृद्धि करने के लिए धन ग्रहण करते कराते हैं और बाह्य क्रिया का दृश्य खड़ा करके बहिदृष्टि लोगों को दिखाते (लुभाते) हैं ।।१४१।।

ज्ञानभंडार, शास्त्रभंडार, पुस्तकालय, ग्रंथालय, ज्ञानाभ्यास कराने वाली संस्था, विद्यालय आदि के लिए वे मर्यादा हीन साधु, *स्वयं प्रयत्न करके द्रव्य प्राप्त करते हैं और दूसरों से करवाते हैं ।*

1. गोचरी के लिए श्रावकों के घरों में घूमने का दंभ करके धर्मशाला में भक्तों के घर से स्वादिष्ट गरम गरम रसोई मंगवाकर भोजन कर लेते है । या धर्मशाला में नोकर के द्वारा गैस पर पुनः गरम करवाकर दूध चाय पी लेते है ।

इस प्रकार वे अपना परिग्रह त्याग महाव्रत भंग करते हुए भी अपने को चारित्र संपन्न बताने के लिए आडम्बर खड़ा करके बाह्यदृष्टि वाले भोले और अज्ञ लोगों को ठगते हैं ।

अण्णोण्णविसंवाओ समुदायम्मि वि मिलंति नो केसि ।
नियनियउक्कडरिसेणं सामायारिं विरोहंति ।।१४२।।

शिथिलाचारी, साधु समुदाय में भी परस्पर विसंवाद चलता रहता है । वे सभी अपने-अपने उत्कर्ष (अभिमान) से एक दूसरे से मिलते नहीं हैं और एक दूसरे की समाचारी का विरोध करते हैं ।।१४२।।

वे नहीं मिलते हैं वहाँ तक उनका प्रभाव उतना अधिक नहीं होता, जितना मिलने पर होता है । यदि शिथिलाचारियों का समुदाय मिलकर एकमेक हो जाता है, तो पतन का मार्ग अत्यंत सुगम हो जाता है और बड़े-बड़े पाप भी दब जाते हैं । इतना ही नहीं वह एकमेक हुआ शिथिलाचारियों का समुदाय, शुद्धाचारी संतों पर अत्याचार करने पर भी उतारू हो जाता है ।

सव्वे वक्खाणपरा, सव्वे थिजणुवएससीला य ।
अहच्छंदकप्पजप्पा, वयंति किं धम्मपरसक्खं ।।१४३।।

वे सभी व्याख्यान देने के लिए तत्पर रहते हैं और सभी स्त्रियों को उपदेश देने में लगे रहते हैं । स्वच्छन्द के समान बोलते हैं और कहते हैं कि 'किसी दूसरे की साक्षी से धर्म होता है क्या ?' कइयों में दीक्षित होते ही व्याख्यानदाता और लेखक बनने की धुन सवार हो जाती है । वे अपने व्याख्यान को रोचक बनाने की धुन में लगे रहते हैं । कई महिलाओं की मण्डली में बैठकर उन्हें व्याख्यान सुनाने के लिए बड़े उत्सुक रहते हैं और

उनमें मोह प्रेरक कथा कहानियाँ कहकर अपना रंग जमाने में लगे रहते हैं । समझदार लोग ही उनकी इस प्रवृत्ति पर समझ लेते हैं कि इनमें संयमप्रियता नहीं, परंतु मोहप्रियता है ।।१४३।।

उन व्याख्याताओं की दृष्टि, भाषा समिति, साधुता एवं धर्मोपदेश की सीमा में नहीं रहती। उनकी एक मात्र इच्छा जनरंजन कर श्रोता समूह के मन पर अपनी छाप जमाने की होती है । महिलाओं का मन रंजन करने की होती है । इसके लिए वे सभी मर्यादा को तोड़कर स्वच्छन्दी भी बन जाते हैं । यदि कोई उन्हें अनुचित प्रवृत्ति नहीं करने के लिए कहता है या समाचारी की उपेक्षा नहीं करने का निवेदन करता है, तो कहते हैं कि धर्म, लोक दिखाऊ क्रिया में नहीं है, वह तो आत्मा की वस्तु है आदि । इस प्रकार वंचकता का पाप भी करते हैं ।

मंडलिजेमणिमाइववहारपरंमुहा असंबद्धा ।
सद्दकरा झंझकरा तुमंतुमा पावतत्तिल्ला ।।१४४।।

मंडली में बैठकर आहार करना इत्यादि व्यवहार और पारस्परिक संबंध से परांमुख, शब्द करने वाले (जोर जोर से बोलने वाले या रात को जोर-जोर से बोलने वाले) झंझकारी (कलह करके समुदाय में भेद खड़ा करने वाले) तूं 'तेरा' आदि तुच्छ वचन बोलने वाले और पापाग्नि में तप्त रहने वाले हैं अथवा पाप में ही संतोष मानने वाले हैं ।।१४४।।

सिढिलालंबणकारणठाणविहारेहिं सव्वमायंति ।
भत्तजणंगुणलेसो वि भासति महमेरुसारिच्छो ।।१४५।।

अवलम्बन की शिथिलता के कारण स्थान और विहार में प्रमाद करते हैं और अपने अल्प गुण को भी भक्तजनों के आगे

मेरु के समान महान् करके बतलाते हैं ।।१४५।।

जब सुखशीलियापन आता है, तो धर्म का अवलम्बन ढीला पड़ जाता है और प्रमाद बढ़ जाता है । प्रमाद बढ़ने पर अपने छोटे से गुण को बड़ा बताकर भक्तजनों में अपनी प्रतिष्ठा कायम रखने का मिथ्या प्रपञ्च किया जाता है । कोई महान् तपस्वी बनने का ढोंग करता है, तो कोई अपने को अध्यात्म प्रेमी बताने की चेष्टा करता है । किसी भी प्रकार से अपनी मान्यता कायम रखने का प्रयत्न किया जाता है ।

धम्मकहाओ उवहिज्जइ घरा घरं भमइ परिकहंतो य ।
कारणपरूवणाहिं अइरित्तं वहइ उवगरणं ।।१४६।।

लोगों के घरों में जाकर धर्म कथाएं कहते फिरते हैं । कुछ कारण बताकर अतिरिक्त (विशेष) उपकरण प्राप्त करने के लिए फिरते हैं ।।१४६।।

मर्यादा से अधिक उपकरण रखने से उपासकों में शंका उत्पन्न होती है । उस शंका को दूर करने के लिए कुछ कारण खड़े करने पड़ते हैं । इसलिए वे वाचालता से कुछ बनावटी कारण बताकर अपनी शिथिलता का बचाव करते हैं ।

एगागिच्छब्भमणं सव्वत्थ वि अगणिऊण पज्जाओ ।
सव्वे अहमिंदधम्मा नियमाणं परिभवोण्णस्स ।।१४७।।

सर्वत्र एकाकी भ्रमण करते हैं । दीक्षा पर्याय की गिनती की अपेक्षा नहीं रखकर सभी अहमिन्द्र-धर्मा हो गये । वे अपने नियमों का पराभव करते हैं ।।१४७।।

आचार्यश्री कहते हैं कि वे कुशीलिए जहाँ चाहे, बिना किसी प्रतिबंध के अकेले ही घूमते रहते हैं । ऐसे अमर्याद भ्रमण करने

वालों का उद्देश्य मुख्यतः मनोरंजन का होता है । वे सभी अहमिन्द्र के समान अपने आप सर्व सत्ता संपन्न हो गये । उन्हें दूसरे दीक्षा ज्येष्ठ की परवाह ही क्या है ? ऐसे मनमौजी स्वच्छन्द, व्रत नियम और धर्माधर्म की परवाह भी क्यों करने लगे ? उनकी इच्छा ही उनके लिए धर्म होती है । इच्छा के आगे सभी धर्म हार जाते हैं ।

नियकज्जे मिउवयणा कयकिच्चे फरुसवयणभासिल्ला ।
अइमूढगूढहियया चुण्णकणगुव्व रंगकरा ॥१४८॥

अप्पम्मि चरणधम्मं ठावंता संपयंमि समयंमि
विसयकसाय धणंजय-जालाजलिया वि ते जाण ॥१४९॥

संजलम्मिकसाए चरणं कहियं जिणेहिं नन्नत्थ ।
पायं आभिण्णगंठिप्पएसिणो ते मुणेयव्वा ॥१५०॥

जब उनका खुद का कोई काम होता है, तो बड़े मीठे बोलते हैं और काम निकल जाने पर कठोर वचनों का व्यवहार करते हैं । वे अत्यंत मूढ़ एवं गूढ़ हृदय वाले हैं । वे अपने वस्त्र, चूने और कतक (कत्थे) की तरह रंगने वाले हैं ॥१४८॥

जो वर्तमान में अपने में ही चारित्र धर्म की स्थापना करने वाले हैं । उन्हें विषय कषाय रूपी अग्नि ज्वाला में जले हुए समझना चाहिए ॥१४९॥

जिनेश्वर भगवान् ने संज्वलन कषाय के उदय में ही चारित्र धर्म कहा है, किन्तु वे मुनि तो अभिन्न ग्रंथी प्रदेश वाले हैं-ऐसा जानना चाहिए ॥१५०॥

गाथा १४८ से लगता है कि वस्त्र को रंगने की प्रथा उस समय भी चालू थी । किन्तु वह रंग, पीत नहीं, लाल से मिलता जुलता या भगवें रंग के समान होगा। पीत वर्ण तो बाद में

चला। उनको शिथिलाचारी दर्शाया ।

वत्थिव्व वायपुण्णो अत्तुक्करिसेण जहा तहा लवइ ।
ण वि सेवइ गीयत्थं वत्थिव्व अदंसणिज्जो सो ।।१५१।।

वायु से भरी हुई वस्ति (मशक) के समान अपने उत्कर्ष (घमंड) के लिए यद्वा तद्वा बोलते रहते हैं । वे गीतार्थ की सेवा नहीं करते । ऐसे साधु वस्ति (गुदा) की तरह अदर्शनीय है।।१५१।।

आचार्यश्री ने उपरोक्त गाथा में उन स्वच्छन्दी घमंडी और लबार साधुओं के मुंह को वस्ति (अथवा बस्ति)=गुदा के समान बताया है। वास्तव में जो उत्तम और मंगलमय वेश धारण करके भी मन में दुर्गंध भरे हुए हैं, वे तो अदर्शनीय ही हैं।

थद्धो णिव्विण्णाणो परिभवइ जिणमयं अयाणंतो ।
तिणमिव मण्णइ भुवणं न
य पिच्छइ किंचि अप्पसमं ।।१५२।।

स्तब्ध-अकड़बाज-घमंड में चूर और निर्विज्ञानी (सम्यग्ज्ञान से रहित) ऐसा वह साधु, श्री जिन प्रवचन को नहीं जानता हुआ पराभव को प्राप्त होता है । फिर भी वह संसार को तृण के समान तुच्छ मानता है । वह अपने समान अन्य किसी को नहीं मानता ।।१५२।।

इधर-उधर की व्यर्थ की बातें या जिनप्रवचन के बाहर की विद्या जानने वाले, निर्ग्रंथ प्रवचन से अनभिज्ञ व्यक्तियों की गर्जना थोथी होती है । उन्हें कभी पराजय का अनुभव करना पड़ता है ।

बहुरूपिये जैसे

बहुमन्नइ गिहिलोयं गिहिणो संजमसहित्ति भण्णंति ।

णय आणं मन्नंति गुरुण गुरुनाणजुत्ताणं ।।१५३।।
गामं देसं च कुलं सड्ढा सड्ढीं ममत्तए कुणइ ।
वसहिघरुल्लोयणाइ नंदिधणाइं पवड्ढंति ।।१५४।।
वंदणनमंसणाइ कारंति परेसि साहुबुद्धीए ।
नय अप्पणो करेंति सिढिलायारा तहा एए ।।१५५।।
लोए इइसाहुवाया धम्मपरा धम्मदंसिणो रम्मा ।
परमंता निद्धम्मा निम्मेरा नडयपेडनिहा ।।१५६।।

ये कुशीलिए गृहस्थ लोगों को बहुत मान देते हैं और गृहस्थ भी उनके लिए कहते हैं कि-ये संयम सहित-संयमी हैं। वे लोग उत्तम ज्ञानी, गुरुओं की आज्ञा नहीं मानते ।।१५३।।

ग्राम, देश, कुल, श्रावक और श्राविकाओं, इन सभी को वे कुसाधु, ममत्व भाव वाले बनाते हैं और वसति (उपाश्रय) घर और चंदोवे आदि तथा नान्दि-धनादि (नांद बनाकर धन संग्रह करना) की वृद्धि करते हैं ।।१५४।।

अपने को साधु बताकर दूसरे साधुओं से अपने को वंदना नमस्कार करवाते हैं। स्वयं शिथिलाचारी होते हुए भी वे किसी अन्य साधुओं को वंदना नमस्कार नहीं करते ।।१५५।।

ऐसे साधुओं की लोगों में प्रशंसा होती है। लोग कहते हैं कि-ये साधु, धर्म में रक्त हैं, धर्मोपदेशक हैं और मनोहर हैं, किन्तु वे सभी अधर्मी, मर्यादाहीन और नाटक पाटक पार्टी के सदस्य जैसे हैं ।।१५६।।

जिसके मन में साधुता की भावना नहीं हो, जो केवल दंभ और ढोंग से ही अपना जाल फैलाकर लोगों से प्रशंसित होते हैं,

वे नाटक कंपनी के सदस्य-स्वांगधर अथवा बहुरूपिये जैसे ही हैं।

दसवां आश्चर्य

दसमगमच्छेरमिणं असाहुणो साहुणुव्व पुज्जंति ।
होहंति तप्पसाया दुभिक्खदरिद्दडमरगणा ।।१५७।।

असाधु, साधु की तरह पूजे जाते हैं, यह दसवां आश्चर्य है। इस आश्चर्य के प्रभाव से इस क्षेत्र में दुष्काल, दारिद्र्य और भय उत्पन्न होते हैं ।।१५७।।

जे संकिलिट्ठचित्ता माइट्ठाणंमि निच्चतल्लिच्छा ।
आजीवगभयघवत्था मूढा णो साहुणो हुंति ।।१५८।।
मूलगुणविप्पमुक्का छक्कायरिऊ असंजया पायं ।
गुणिमुणिपओसजुत्ता धिट्ठाणायारसूरिमुहा ।।१५९।।
सुसमायारीब्भट्ठा नियडिपरा भत्तलोयथुइदक्खा ।
पच्छन्नसव्वसंगह-कारिणो सव्वभुज्जपरा ।।१६०।।

जो साधु संक्लिष्ट चित्तवाले हैं, माया स्थान में नित्य तत्पर रहते हैं और आजीविका के भय से ग्रसित हैं, ऐसे मूढ़ वेशधारी, साधु नहीं हो सकते ।।१५८।।

मूलगुण से रहित, छहकाय जीवों के शत्रु, प्रायः असंयमी, गुणवान् साधुओं पर द्वेष रखने वाले, धृष्ट, अनाचारी अथवा धिक् स्थानीय ।।१५९।।

उत्तम समाचारी से भ्रष्ट, पापाचार्य, नियडि (माया) में तत्पर, भक्तों की स्तुति करने में दक्ष, गुप्त रीति से परिग्रह संग्रह करने वाले, सर्वभक्षी ।।१६०।।

सुद्धं सुसाहुधम्मं अंगे न धरेइ नो पसंसेइ ।
सद्धागुणेहिं रहिया परमत्थचुया पमायपरा ।।१६१।।
गिहिपुरओ सज्झाय करंति अण्णोणमेव जुज्झंति ।

सीसाइयाणं कज्जे कलहविवायं उईरंति ।।१६२।।

जो शुद्ध साधु धर्म को अंग पर धारण नहीं करते, न शुद्ध धर्म की प्रशंसा ही करते हैं, जो श्रद्धा गुण से भी रहित हैं, परमार्थ से पतित और प्रमाद में तत्पर हैं ।।१६१।।

जो गृहस्थों के आगे स्वार्थवश स्वाध्याय करते हैं, परस्पर लड़ते हैं, शिष्यादि के लिए क्लेश करते हैं, विवाद उत्पन्न करते हैं ।।१६२।।

किंबहुणा भणिएणं बालाणं ते हवंति रमणिज्जा ।
दक्खाणं पुण एए विराहगा छन्नपावदहा ।।१६३।।

अधिक क्या कहें? ऐसे ढोंगी साधु, बाल जीवों को प्रिय लगते हैं, किन्तु दक्षजनों की दृष्टि में तो वे विराधक हैं और पाप के गुप्त द्रह के समान हैं ।।१६३।।

वंदणनमंसणाई जोगुवहाणाइ तप्पुरो विहियं ।
गुरुबुद्धिए विहलं सव्वं पच्छित्तजुग्गं च ।।१६४।।
जम्हा भणियं छेए अत्थिक्केण रहियतित्थिलिंगीणं ।
पुरओ जं धम्मकिच्चं विहियं पच्छित्तचउगुरुयं ।।१६५।।

ऐसे साधुओं को वंदना नमस्कारादि करना और गुरु बुद्धि से उनसे योग उपधान[1] आदि करना, ये सभी निष्फल होकर प्रायश्चित्त के योग्य हैं ।।१६४।।

छेद ग्रंथों में श्रद्धा रहित, ऐसे तीर्थी अथवा लिंगधारी के सामने, धर्म कृत्य करने का प्रायश्चित्त चतुर्गुरु कहा है ।।१६५।।

कीइकम्मं च पसंसा, सुहसीलजणम्मि कम्मबंधाय ।
जे जे पमायठाणा ते ते उवबूहिया हुंति ।।१६६।।
एवं नाऊण संसग्गिं कुसीलाणं च संथवं ।

1. महानिशिथ सूत्र के योगवहन किये हुए मुनि की निश्रा में ही करना करवाना शास्त्रोक्त है ।

संवायं च हियाकंखी सव्वोवाएहिं वज्जए ।।१६७।।
निन्नव अभव्वगाणं जा किरिया मुद्धमोहसंजणिया ।
तारिसिया खलु किरिया छउमत्थाणं नियडियाणं ।।१६८।।

सुखशीलिए साधु को कृतिकर्म (विधि पूर्वक वंदना) करना और प्रशंसा करना, यह कर्म बंध का कारण है। इससे वे कुसाधु जिन-जिन प्रमाद स्थानों का सेवन करते हैं, उन-उन प्रमाद स्थानों को प्रोत्साहन मिलता है ।।१६६।।

इस प्रकार समझकर हित-चिंतक जीव, कुशीलियों का संसर्ग, स्तवना (प्रशंसा) एवं सहवास का, सभी उपायों से त्याग करें ।।१६७।।

मोहीजनों को मुग्ध करने वाली क्रिया तो निह्नव और अभव्य भी करते हैं और निश्चय ही ऐसी क्रिया मायावी छद्मस्थ साधुओं की है ।।१६८।।

निरवज्जो खलु धम्मो, पण्णत्तो जिणवरेहिं इय वयणं ।
भासंता गूहंता तित्थयराईण विहिभत्तिं ।।१६९।।
अप्पमाईइ पवयणं हीलंता तच्चमग्गमलहंता ।
अण्णाणकट्ठरूवं दंसइ मूढाण जीवाणं ।।१७०।।
ते विय अदंसणिज्जा जिणपवयणबाहिरा विणिद्दिट्ठा ।
मिच्छत्तदरिद्दजुया पाविट्ठा सव्वनिक्किट्ठा ।।१७१।।

निश्चय ही जिनेश्वर भगवंत ने तो निरवद्य धर्म कहा है, इस प्रकार बोलते और (इस प्रकार बोलते हुए भी) तीर्थंकरों की विधिमार्ग वाली भक्ति का गोपन करते हैं ।।१६९।।

वे अल्पमति से जिन प्रवचन की निंदा करते तथा तत्त्वमार्ग से वंचित रहते, मुग्ध-भोले जीवों को अज्ञान कष्ट दिखाते हैं (अज्ञान कष्ट में गिराते हैं) ।।१७०।।

ऐसे साधु, दर्शन करने योग्य नहीं है, जिन प्रवचन से बाहर हैं, मिथ्यात्व रूपी दारिद्र्य से युक्त हैं, पापिष्ठ हैं और सबसे निकृष्ट-अधम हैं ।।१७१।।

।। इति कुगुरु गुर्वाभास पार्श्वस्थादि स्वरूपाधिकार ।।

उपरोक्त विवेचन 'संबोध प्रकरण' का दूसरा अधिकार है। इसके रचयिता आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी महाराज हैं । उनके समय के विषय में मतभेद है । कोई विक्रमीय छठी शताब्दि का उत्तरार्द्ध बताते हैं और कोई आठवीं शताब्दि का उत्तरार्द्ध । किन्तु यह तो निश्चित है कि उस समय साधुओं में शिथिलाचार बहुत ही बढ़ गया था और व्यापक हो गया था । आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी ने जब देखा कि शिथिलाचार चरम सीमा पर पहुँच चुका है, तो वे विचलित हो गये । उन्होंने उनका जोर शोर से विरोध किया। उनका विरोध अत्यंत तीव्र एवं उग्र था । इसका कारण यह था कि वे श्री जिनधर्म की-श्री वीरशासन की, श्री वीर के ही वंशजों द्वारा विडम्बना देखकर क्षुब्ध हो गये थे । उस समय के शिथिलाचारी भी दंभ प्रपंच और षड्यंत्र में होशियार थे । वे अपना प्रभाव जमाने और धर्मप्रिय साधुओं का प्रभाव घटाने, उन्हें तंग करने और अपनी दंभ-जाल में फंसाने की तिकड़म करते थे । इसीलिए तो आचार्यश्री ने लिखा कि-ऐसे कुशीलियों से और उनके पक्ष से दूर ही रहना, उन्हें उपदेश देना भी ठीक नहीं (गाथा १३१) आदि ।[1] अन्यथा उपदेशादि तो मिथ्यादृष्टियों को भी दिया जाता है फिर उन्हें उपदेश देने में क्या

1. श्री राजशेखरसूरिजी ने १३१ वीं गाथा का अर्थ उपदेश देने के अर्थ में किया है ।

दोष है ?

शुभ परिणाम की आशा हो, तो अनुकूलता होने पर पासत्थादि से भी मर्यादित मिलना, बातचीत करना और समझाना अनुचित नहीं है । किन्तु शुभ परिणाम की संभावना नहीं हो तो व्यर्थ है ।

इस प्रकरण पर विचार करते हैं, तो लगता है कि आज की परिस्थिति भी वैसी बनती जा रही है और मिथ्या प्रचार में तो उससे भी विशेष बढ़ी हुई लगती है । वर्त्तमान में प्रेस के साधन से मिथ्यात्व और अविरति का प्रचार महावीर के वेशधारी बढ़-चढ़कर कर रहे हैं । कोई स्वच्छन्द होकर अंट-संट लिख रहे हैं और सूत्र के अनुवाद के माध्यम से अपना मिथ्यात्व और अनाचार प्रसारित कर रहे हैं। दुराचार भी वृद्धि पर है ।

ऐसे विकट समय में इस प्रकरण को सम्यग् विचार पूर्वक ग्रहण करने पर शुभ परिणाम होना संभव है । आशा है कि यह प्रकरण निर्ग्रंथ संस्कृति के प्रेमियों के लिए ज्ञान वर्द्धक होगा ।

॥ जैनं जयति शासनम् ॥

समाप्त

कुसील लिंगं इह धारइत्ता,
इसिज्झयं जीवियबूहइत्ता ।
असंजए संजय लप्पमाणे,
विणिघायमागच्छइ से चिरंपि ।।
उद्देसिअं कीअगडं निआगं,
न मुच्चइ किंचि अणेसणिज्जं ।
अग्गी विवा सव्वभक्खी भवित्ता,
तओ चुओ गच्छइ कट्टु पावं ।।

– उपदेश रत्नाकर २/७

इस लोक में कुशील साधु, साधु के लक्षणरूप रजोहरणादि से जीवन पूर्ण करता है। असंयमी होते हुए भी अपने को संयमी दर्शाने वाला दीर्घकाल तक पतन को प्राप्त करता है, निमंत्रण देता है ।

आधाकर्मि, औद्देशिक, क्रीत आदि किसी भी प्रकार का आहार नहीं छोड़ता। वह अग्नि के समान सर्वभक्षी है । वह संयम से च्युत होकर पाप करके दारुण दुःख को प्राप्त करता है।

परिग्रहारम्भमग्नास्तारयेयुः कथं परान् ।
स्वयं दरिद्रो न परमीश्वरी कर्त्तुमीश्वरः ।।

– उपदेशरत्नाकरसप्तमतरङ्ग द्वितीयेऽंशे.

परिग्रह और आरंभ में रक्त दूसरों को कैसे तारेंगे ? क्योंकि स्वयं दरिद्री होने से दूसरों को ऐश्वर्यशाली कैसे बनायगा ?

दुहं घरिभज्जा कररसण किज्जइ कवणु सीस
गुरुकवण भणिज्जइ ।

मूढउ लोक अयाण न बुज्झइ,
कद्दमु कद्दमेण किम सुज्झइ ॥

– उपदेश रत्नाकर २ अंश ७ तरंग.

दुःख युक्त खेती करके क्या घर भरा जायगा? किसको शिष्य? किसको गुरु? कहना। अज्ञान से युक्त मूढ़ लोकबोधित नहीं होते । कीच्चड़ से किच्चड़ क्या साफ होगा ?

सप्पो इक्कं मरणं, कुगुरु अणंताणिकुणइ मरणाइं ।
तो वरि सप्पो गहिओ, मा कुगुरुसेवणं भद्दं ॥

– उपदेश रत्नाकर २/६

सर्प से एक बार मृत्यु होती है और कुगुरु से अनंत जन्म मरण होते हैं अतः सर्प के सानिध्य से हानि कम, कुगुरु के सानिध्य से हानि अधिक । अतः कुगुरु का त्याग करना ।

केचिद् गुरवो मूल्येनैव सम्यक्त्वालोचनादि ददते, प्रतिष्ठादि वा कुर्वते । चिकित्सादि कृत्वा विद्याप्रागल्भ्यतच्चमत्कारादिश्चविविधमन्त्रयन्त्राद्यर्प्पणकार्मणवशीकरणादिलाभालाभादिनिमित्तशकुनमुहूर्त्तादि च प्रकाश्य दानादि गृहणन्ति विविधावर्ज्जनाभिर्वशीकुर्वन्ति च धर्म्मार्थिनोऽपि जनांस्तथा यथा नान्यान् सुविहितगुरुनप्याश्रयन्ति, प्रत्युत हसन्ति तांस्तदनुसारिणश्च ।।

– उपदेश रत्नाकर २ पेज. ५३

कितनेक गुरु मूल्य लेकर सम्यक्त्व उच्चरवाते है, आलोचनादि देते है और प्रतिष्ठा में भी रुपये लेकर प्रतिष्ठा करवाते है । चिकित्सा से, विद्या की चतुराई से चमत्कारादि विविध प्रकार के मंत्र तंत्रादि से, कार्मण वशीकरण से, लाभालाभ के निमित्त से,

शुकन, मुहूर्त्तादि से दानादि ग्रहण करते हैं । इस प्रकार के विविध आकर्षण से लोगों को अपनी ओर इस प्रकार आकर्षित करते है जिससे धर्म के अर्थी होने पर भी वे लोग दूसरे सुविहित गुरु का आश्रय नहीं करते, विपरीत सुगुरु के आश्रित लोगों का वे हास्य करते हैं। उनकी मश्करी करते है । ऐसे कुगुरु भी अनेक होने से उनके दृष्टांत नहीं दिये ।

चारित्रेण विहीनः श्रुतवानपि नोपजीव्यते सद्भिः ।
शीतलजलपरिपूर्णः कुलजैश्चाण्डालकूप इव ॥

– उपदेश रत्नाकर १/२

चारित्र से रहित ज्ञानी सज्जनों की ओर से मान-सन्मान नहीं पाता जैसे शीतल जल से पूर्ण चंडाल के कूप को कुलवान व्यक्ति छोड़ देते है । यानि कुलवान उसका उपयोग नहीं करते ।

शीतेऽपि यत्नलभ्यो, न सेव्यतेऽग्निर्यथा श्मसानस्थः ।
शीलविपन्नस्य वचः पथ्यमपि न गृह्यते तद्वत् ॥

– उपदेश रत्नाकर २/९०

शीतकाल की पीड़ा में यत्न से प्राप्त अग्नि अगर श्मशान की है तो उस अग्नि का सेवन सज्जन नहीं करता । वैसे ही सदाचार से रहित व्यक्ति के वचन पथ्यकारी होते हुए भी श्रवणीय नहीं है ।

दुब्भासिएण इक्केण, मरीई दुक्खसागरं पत्तो ।
भमिओ कोडाकोडिं, सागरसरिनामधिज्जाणं ॥

दुर्भाषित एकवचन से मरीची एक कोडाकोडी सागरोपम काल तक दुःखरूपी संसार सागर में गिरा ।

– उपदेश रत्नाकर

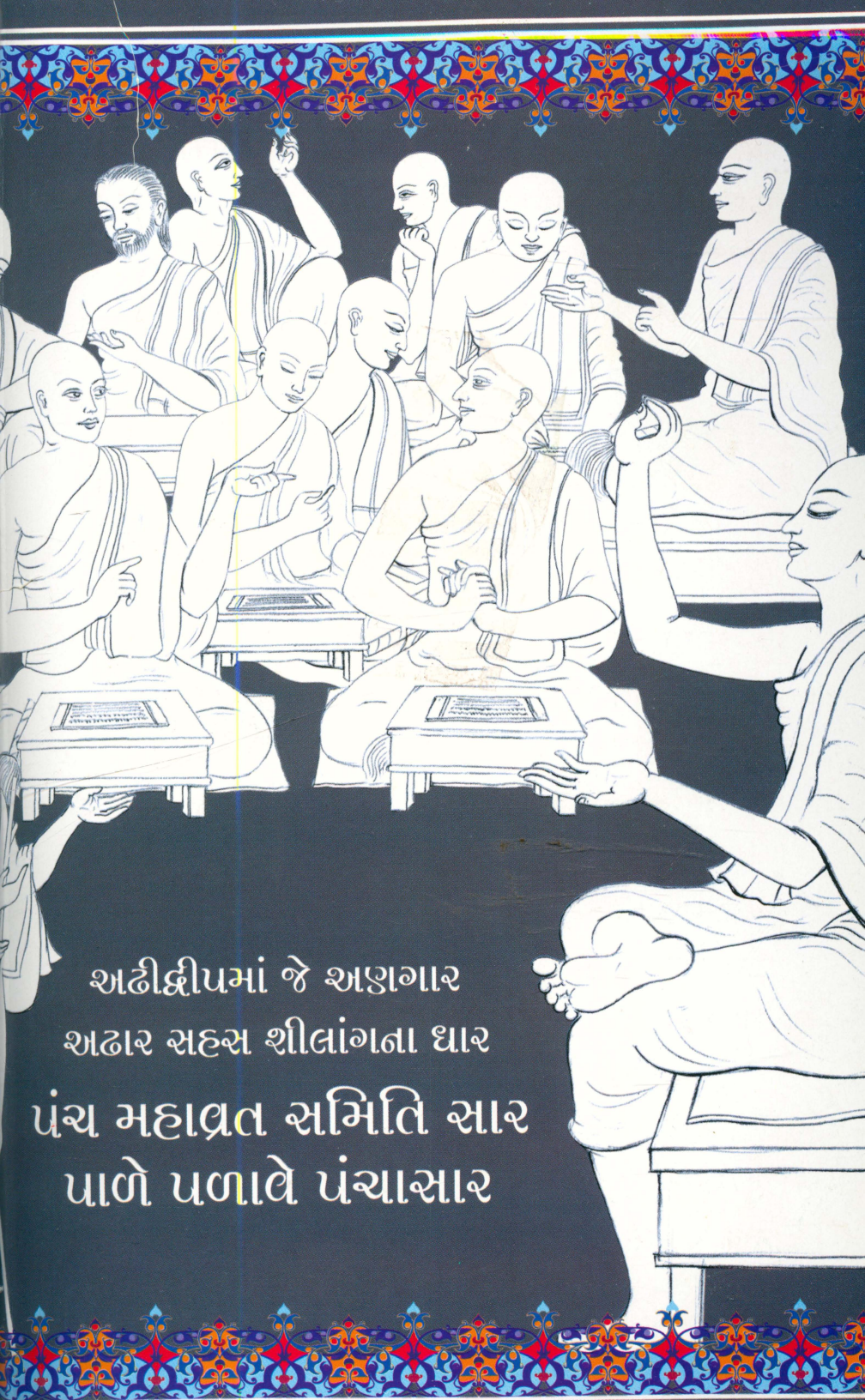

અઢીદ્વીપમાં જે અણગાર
અઢાર સહસ શીલાંગના ધાર
પંચ મહાવ્રત સમિતિ સાર
પાળે પળાવે પંચાસાર

गुरु के प्रति बहुमान भाव के बिना,
परमात्मा के प्रति बहुमान करने या आत्मसाक्षात्कार
आदि के लिए प्रयत्न करते है,
उनको उसमें कभी सफलता नहीं मिलती।
यह सत्य बात हृदय में लिख कर रखना।

- वैराग्य देशनादक्ष आ.श्री. हेमचंद्रसूरिजी

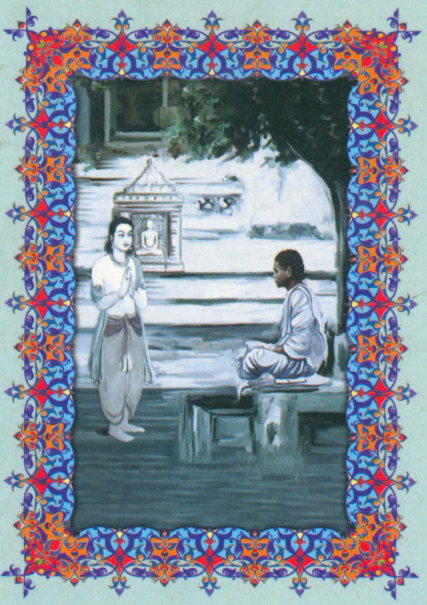

उपेक्षा और माध्यस्थभाव में क्या अंतर है ?

अपने को जिसके प्रति सद्भाव है, पर वह अपने से सुधरे-समझे वैसा न हो
तब उसके प्रति उपेक्षा भाव और दूसरों के प्रति माध्यस्थ भाव रखना।

जैसे चिंटि (कीडी) मरणावस्था में हो, उसे नवकार सुनाने का क्या अर्थ?

वह माध्यस्थ भाव! करुणा के भाव में सूचन करना
न सूने तो उपेक्षायामाध्यस्थभाव!

MULTY GRAPHICS
(022) 23873222 23884222